योगसार

(अज्ञातकवि विरचित)

❋ प्रकाशन प्रेरक ❋

पूज्य साध्वी प्रियदर्शनाश्रीजी म.सा.
पूज्य साध्वी विनीतयशाश्रीजी म.सा.

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

अज्ञातकवि विरचित

योगसार

(हिन्दी अर्थ और भावार्थ सहित)

❋ प्रेरक ❋

पूज्य साध्वी प्रियदर्शनाश्रीजी म.सा.
पूज्य साध्वी विनीतयशाश्रीजी म.सा.

❋ हिन्दी अर्थ और भावार्थ लेखक ❋

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

❋ प्रकाशक ❋

श्री खरतरगच्छ महिला मण्डल
पाली-मारवाड़ (राजस्थान)

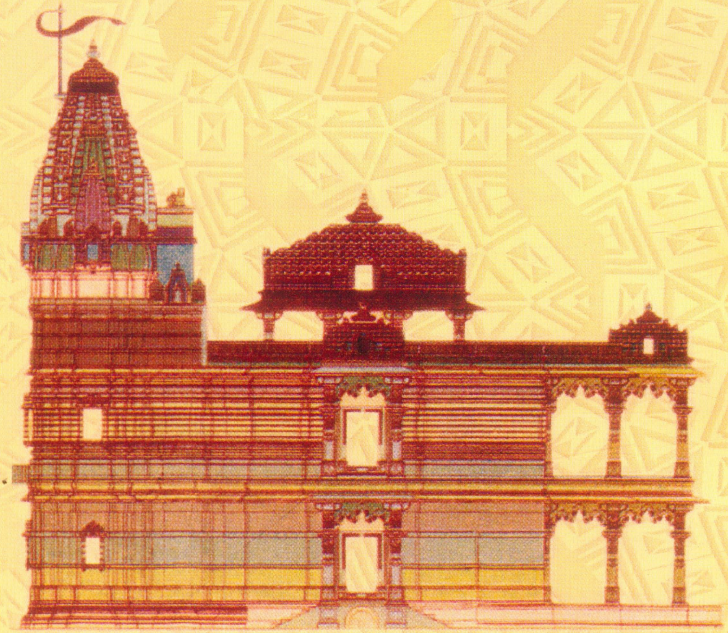

श्री अनुभव संस्कार धाम, पाली (राजस्थान)

योगसार

- ❒ प्रतियाँ : १०००
- ❒ संस्करण : प्रथम
- ❒ प्राप्तिस्थान : अनुभव ज्ञान भण्डार, खरतरगच्छ उपाश्रय
  गुजराती कटला, नारेल की पोल, पाली-मारवाड़
- ❒ मूल्य : स्वाध्याय
- ❒ संकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ☎ २४४०५७८
- ❒ मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर ☎ २४३३३४५

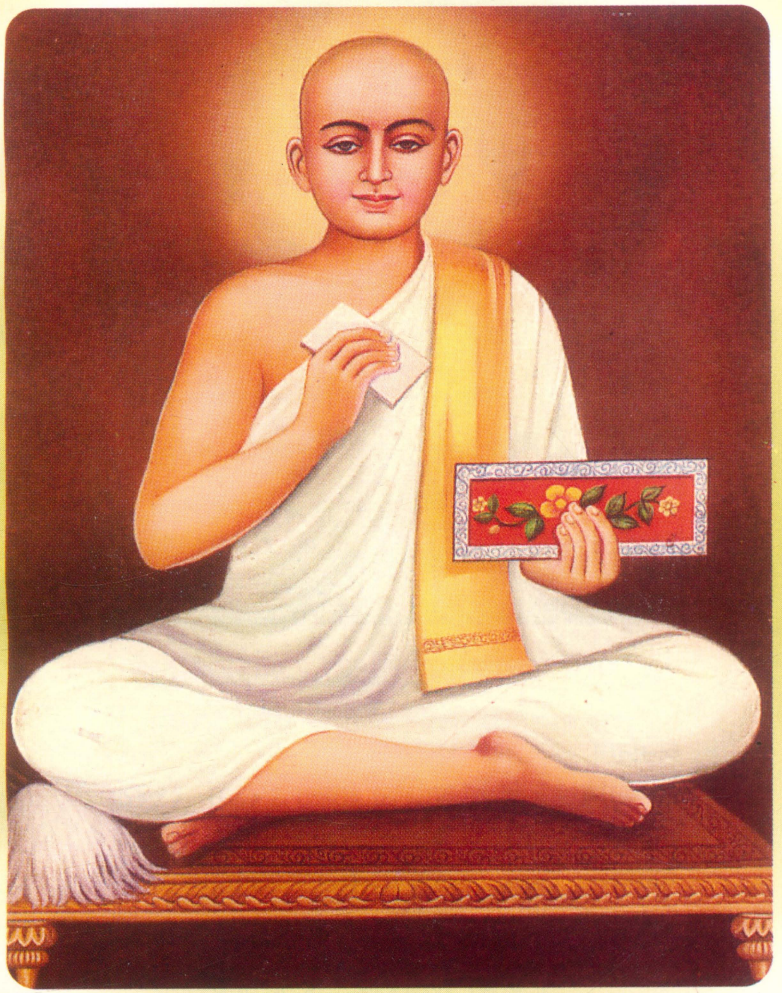

पूज्य दादा गुरुदेव श्री जिनकुशल सूरिजी

परम पूज्यश्री प्रेमश्री जी महाराज सा.

जन्मनाम	:	धूलीबाई
जन्मतिथि	:	आश्विन शुक्ला १५, सं. १९३८
पिताश्री	:	किशनलालजी लूणावत
माताश्री	:	लाभूबाईजी
जन्मस्थान	:	फलौदी
दीक्षातिथि	:	मार्गशीर्ष कृष्णा १०, सं. १९५४
दीक्षागुरु	:	पूज्यश्री शिवश्रीजी म.सा.
दीक्षास्थल	:	फलौदी
प्रवर्त्तिनी पद	:	भाद्रपद शुक्ला १५, सं. २०१०
समाधि	:	आश्विन कृष्णा १३, सं. २०१०

परम पूज्य अनुभवश्रीजी महाराज सा.

जन्मनाम	:	गुलाबदेवी
जन्मतिथि	:	भाद्रपद कृष्णा अष्टमी
पिताश्री	:	जमनादासजी भांडावत
माताश्री	:	सोहनदेवी
जन्मस्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
दीक्षातिथि	:	चैत्र सुदी १०, सं. १९७९
दीक्षागुरु	:	पूज्य प्रेमश्रीजी म.सा.
दीक्षास्थल	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिष्याएँ	:	तेरह

卐 श्री अनुभव गुरु गुणकीर्तन 卐

(नाथ-निरंजन-भवभय-भंजन)

ज्ञान-ध्यान-संयम-सौरभमय जीवन कुसुम रहा खिलता,
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण का, पावनस्रोत सदा बहता।
घट-घट में जिसके गुंजित था ॐ अर्हं का जाप सदा,
उसके पावन चरण-कमल में, शत-शत वन्दन सदा-सदा॥१॥

मंगलकारी जिसका दर्शन गुरुवर्या प्राणों से प्यारी,
क्रोध-मोह-मद-लोभ निवारी भव-भय-भीति सदा वारी।
जिसने **त्यागे सो आगे** को जीवनसूत्र बनाया था,
सत्य-अहिंसास्तेय-असंग्रह को, पूरण अपनाया था॥२॥

शुभ्र-वस्त्र-परिवेष्टित मानों देहधारी ब्रह्माणी हो,
कुत्सित कर्मलताछेदन को देवी जाने कृपाणी हो।
भव्यजनों को सद्बोधन कर, शासन-ज्योति जलाई थी,
जिनशासन की दिव्य मणि तुम, कीर्ति कथा मन भाई थी॥३॥

जिसके अणु-अणु में भरा था शासन का शुभ-राग महा,
विचरण कर अवनीतल में सद्धर्म-स्रोत को दिया बहा।
शिक्षा दीक्षा सद्बोधिरत्न दे, भव्यों का उद्धार किया,
ज्योति जगाकर दिव्य ज्ञान की, मोहतिमिर का नाश किया॥४॥

देवि! तेरे चरण कमल का जिसने सच्चा शरण लिया,
त्रिविध ताप-सन्ताप मिटा सुख-शान्ति सुधा का पान किया।
जीवन धन्य सदा उनका जो कीर्तिकथा का गान करे,
श्रद्धा सुमन चढ़ाते तेरे चरणों में शुभ भाव भरे॥५॥

माता-पिता बन्धु तू मेरी सखा सहोदर स्वामी हो,
सर्व-समर्पण किया चरण में गुरुकृपा की कामी हो।
बरसाना आशिष धारा मुद-युक्त हृदय से देवी! तुम,
पा जायें तेरे दिव्य ज्ञान की यत्किंचित् ज्योति सब हम॥६॥

ऐसी शक्ति देना गुरुवर! आतम का उत्थान करें,
सर्व-जीव शासन-प्रेमी हों ऐसी श्रद्धा भाव भरे।
भव भव **'सुवर्णा'** मांगे मिलना अनुभव-गुरु का चरण-शरण,
जय-जय बोलो अनुभव गुरु की कट जावे सब भव-बंधन॥७॥

पूज्य प्रियदर्शनाश्रीजी म.सा.

जन्मनाम	:	चांद
जन्मतिथि	:	कार्तिक कृष्णा अमावस्या, सं. १९७७
पिताश्री	:	भागीरथजी लालवानी
माताश्री	:	घीसीबाईजी
जन्मस्थान	:	जावरा (म.प्र.)
दीक्षातिथि	:	ज्येष्ठ शुक्ल १०, सं. २००४
दीक्षागुरु	:	पूज्य प्रेमश्रीजी म.सा., पूज्य अनुभवश्रीजी म.सा.
दीक्षास्थल	:	जावरा (म.प्र.)

पूज्य विनीतयशाश्रीजी म.सा.

जन्मनाम	:	प्रेमलता
जन्मस्थान	:	बालेवा (बाड़मेर)
पिताश्री	:	पोकरदासजी बोहरा
माताश्री	:	अगरीबाईजी
दीक्षातिथि	:	वैशाख शुक्ल २, सं. २०४१
दीक्षागुरु	:	पूज्य अनुभवश्रीजी म.सा.
दीक्षास्थल	:	पाली (राजस्थान)

पुरोवाक्

खरतरगच्छीय साध्वी परम्परा में **पूज्य उद्योतश्रीजी म.सा.** की प्रशिष्या एवं **श्री लक्ष्मीश्रीजी म.सा.** की शिष्या परम पूज्य **शिवश्रीजी म.सा.** का उनके विशाल शिष्या परिवार के कारण विशेष स्थान है। उनका यह परिवार **'शिवश्रीजी का समुदाय'** नाम से विख्यात है। श्री शिवश्रीजी म.सा. को यह गौरव भी प्राप्त है कि उनकी पाँच शिष्याएँ **'प्रवर्त्तिनी'** पद से विभूषित हुईं। उन्हीं पाँच महासाधिकाओं में एक हुईं - **श्री प्रेमश्रीजी म.सा.** (सं. १९३८-२०१०)।

श्री प्रेमश्रीजी म.सा. का जन्मनाम धूलीबाई था। १३ वर्ष की अल्पायु में विवाह हुआ। एक वर्ष के भीतर ही वैधव्य से वैराग्य की वह ज्वाला प्रस्फुटित हुई जिसने संसार की असारता से साक्षात्कार करा उन्हें संयम मार्ग अपनाने को प्रेरित किया। १६ वर्ष की आयु में पूज्य शिवश्रीजी म.सा. से दीक्षा ग्रहण कर धूलीबाई साध्वी प्रेमश्री हुई। उनमें महान् शासन प्रभाविका होने के लक्षण शिवश्रीजी म.सा. को स्पष्ट दिखे। इसी तथ्य को दृष्टिमध्य रख वे प्रेमश्रीजी का स्नेह व सतर्कता पूर्वक मार्गदर्शन करती रहीं। गुरुवर्या की छत्रछाया में प्रेमश्रीजी का व्यक्तित्व विद्वत्ता, पांडित्य, ज्ञान, साधुता, उत्कृष्ट संयम व चारित्र का अनुपम संगम बन गया। वे भाषा की विविध विधाओं में पारंगत, प्राय: ४५ आगमवेत्ता, प्रखर व्याख्यानदात्री होने के साथ-साथ विनय की साक्षात् प्रतिमा थीं। उनके लिए गुरु-आज्ञा प्रमाण थी। समतारससिक्त प्रेमश्रीजी म.सा. अद्वितीय मौन-ध्यान साधिका थीं। सं. २०१० में वे प्रवर्त्तिनी पद से अलंकृत हुईं और उसी वर्ष देवलोक सिधार गयीं।

महान् आत्मसाधिका, श्रुताध्यवसायी, चारित्र-चूड़ामणि प्रेमश्रीजी म.सा. की ही चरणानुगामी शिष्या थीं हमारी परम श्रद्धेय, परम उपकारी **गुरुवर्या स्व. श्री अनुभवश्रीजी म.सा.** (सं. १९५९-२०४३) (जन्म नाम गुलाबकुमारी)। गुलाब का तो जन्म ही जैसे चतुर्दिक् श्रुत-सुवास के प्रसारण के लिए ही हुआ था। प्रेमश्रीजी म.सा. के प्रवचनों को सुनने का उन्हें जो अवसर मिला तो उनकी

सुषुप्त आत्मा जागृत हो गयी। सांसारिकता से मोहभंग हो गया, स्व-पर भेद स्पष्ट हुआ और गुलाब सर्वविरति धर्म ग्रहण कर संयममार्ग की साधिका अनुभवश्री बन गयीं। साधना पंथ पर अग्रसर होते हुए उन्होंने संस्कृत व प्राकृत भाषाओं का गहन अध्ययन किया। आगमों के गूढ़ रहस्यों को हृदयंगम किया और अपने अनुभवों को वाणी में ढाल अनुपमेय प्रवचन कौशल से सर्वजनहिताय प्रकाशित किया। उनका विराट् व्यक्तित्व एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति था जिसके ज्ञान-पुंज से अनेक दिक्भ्रमित सन्मार्ग के राही बने, अनेक के कर्मबंध क्षीण हुए और न जाने कितने श्रावक धर्म में सुदृढ़ हुए।

गुरुवर्याश्री अनुभवश्रीजी की ही अनुकम्पा से हमें भी जीवन की सही दिशा मिली। अनन्तकाल से भटक रही आत्मा को अन्तस् की यात्रा का बोध हुआ। अज्ञान तिमिरावरण का उच्छेद हुआ और रत्नत्रय रूपी आत्मिक कोष की कुंजी रूप प्रव्रज्या धारण करने की चेतना जागृत हुई। उन्होंने हमें सम्बल दिया, हमारा मार्गदर्शन किया और अनन्य कृपा कर दीक्षा दे अपना शिष्यत्व प्रदान किया। उन्हीं के मार्गदर्शन में सांसारिक सुखों की छलना से मुक्त हो शाश्वत सुख के अन्वेषण की यात्रा प्रारम्भ हुई जो अनवरत जारी है उन्हीं की स्मृति के सहारे। उनके स्मरण के साथ ही हृदय में कृतज्ञता के भाव उदित होते हैं -

जे स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दुख अनन्त।
समझाव्यू ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवन्त ।।
परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम।
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम।।
प्रणाम उन्हें क्योंकि वे परम वत्सला मातृस्वरूपा थीं,
प्रणाम उन्हें क्योंकि वे प्रज्ञाशीला, प्रशमरसनिमग्ना थीं,
प्रणाम उन्हें क्योंकि वे देव, गुरु, धर्म की परम आराधिका थीं,
और थीं जन-जन के लिए श्रेयोमार्ग की सिद्धहस्त मार्गदर्शिका।

शास्त्रों में गुरुवर्याश्री की गहन रुचि थी। शास्त्राध्ययन, संरक्षण, संवर्धन

सदैव उनके चिन्तन के विषय रहे। 'श्रुत सम्पत्ति में उद्यम' को भगवान उमास्वाति की भाँति वे भी वैराग्य मार्ग में स्थिरता का अमोघ उपाय मानती थीं। प्रस्तुत **'योगसार'** ग्रन्थ उन्हें अतिप्रिय था। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि इसकी हिन्दी टीका की जाये जिससे अधिकाधिक संख्या में लोगों को इसमें निहित ज्ञान-निधि सुलभ हो सके। भवितव्यतावश, उनके जीवन काल में उनकी यह अभिलाषा मूर्त्त रूप न ले सकी। परन्तु, उनके दिव्य आशीर्वाद से अब यह संभव हुआ है।

डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी कृत **'योगसार'** का हिन्दी भाषान्तर मय भावार्थ सर्वलोकहिताय प्रस्तुत है। ***गुरुवर्याश्री अनुभवश्रीजी म.सा. की पावन स्मृति में उनका यह अतिप्रिय ग्रन्थ हमारी भावांजलि सहित उन्हीं को समर्पित करते हुए हमारा रोम-रोम हर्षित है।***

इस कृति के अध्ययन, मनन, चिन्तन से आत्मार्थी अपना कल्याण पथ प्रशस्त करें, यही मंगलकामना है।

'योगसार' ग्रन्थ के सर्वजनग्राह्य सरल सरस हिन्दी में रूपान्तरण (भावार्थ सहित) की प्रस्तुति का सम्पूर्ण श्रेय ज्ञानी-ध्यानी, श्रेष्ठ श्रावक **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** को है, सरस्वती जिनकी वाणी पर व लेखनी पर समान रूप से विराजती है। जैन दर्शन-साहित्य संवर्द्धन के माध्यम से श्री पाटनीजी ने जिनशासन की प्रभावना में अप्रतिम योग दिया है। दीर्घकाल से लम्बित इस श्रमसाध्य कार्य को अल्पावधि में पूर्ण करने के लिए वे कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं। उनके लिए हृदय से हमारा यही आशीर्वचन है कि वे दीर्घकाल तक अपनी लेखनी व प्रज्ञा के माध्यम से श्रुतसेवा करते रहें।

पुस्तक प्रकाशन के उत्तरदायित्व के सम्यक् निर्वहन के लिए **श्री खरतरगच्छ महिला मण्डल, पाली** भी हमारे आशीर्वचन का अधिकारी है। मंडल श्रुत के सम्यक् प्रकाशन हेतु नियमित रूप से प्रयत्नशील हो, यही कामना है।

पाली-मारवाड़

साध्वी प्रियदर्शनाश्री
साध्वी विनीतयशाश्री

कृति के सम्बन्ध में

योग शब्द का सामान्य अर्थ है जोड़। साधना के क्षेत्र में इसका अभिप्राय है आत्मा और परमात्मा का जुड़ाव। पारिभाषिक अर्थ में मन, वचन और काय को भी योग कहते हैं - जिनसे कर्मों का आस्रव होता है परन्तु यदि तीनों को परमात्मा से जोड़ दिया जाए तो उस एकाग्र ध्यान से कर्मों की निर्जरा भी होती है। यहाँ योग ध्यान का पर्याय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है -

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो॥१३९॥ - नियमसार

योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं। साम्य, समाधि, चित्तनिरोध, ध्यान, योग ये भी पर्यायवाची शब्द हैं। बहिरन्तर जल्प को रोक कर चित्त निरोध करना भी योग है।

भारतीय षड्दर्शनों में **योगदर्शन** एक स्वतंत्र दर्शन है जिसका पर्याप्त साहित्य है। मन व इन्द्रियनिग्रह ही इसका मुख्य प्रयोजन है। योग का अर्थ समाधि है। श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में योग समाधि के अर्थ में ही है। शाण्डिल्यादि उपनिषदों में उसकी प्रक्रियाओं का सांगोपांग वर्णन है।

योगदर्शन के **आद्यप्रवर्तक हिरण्यगर्भ** अपरनाम स्वयम्भू हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि आधुनिक योगसूत्रों के व्यवस्थापक हैं। इनका समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी है। पतंजलि के योगसूत्रों पर व्यास (चौथी शताब्दी) ने भाष्य लिखा है। व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र (ई. ८४०) ने टीका व तत्त्ववैशारदी भोज (१०वीं शताब्दी) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक और नागोजी भट्ट (१७वीं शती) ने छाया व्याख्या नामक टीकाएँ लिखी हैं।

योग के प्रसिद्ध आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पतंजलि ने सांख्य दर्शन के आधार पर ही योग के सिद्धान्तों का निर्माण किया है अतः दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी मोक्षप्राप्ति के लिए सांख्यदर्शन केवल तत्त्वज्ञान पर जोर देता है जबकि योगदर्शन यम, नियम, ध्यान, समाधि आदि सक्रिय प्रक्रियाओं पर जोर देता है, यही दोनों में भेद है।

जैन आम्नाय में भी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही आचार्यों ने योग-ध्यान-समाधि का विशद वर्णन किया है और इसे मोक्षमार्ग का प्रधान अंग माना है। दिगम्बर आम्नाय में प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं - **तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९** व इसकी टीकाएँ - **सर्वार्थसिद्धि** और **राजवार्तिक, ज्ञानार्णव** (आ. शुभचन्द्र), **तत्त्वानुशासन** (नागसेन)। योग नाम से भी अनेक ग्रन्थ हैं - **योगसार** (योगेन्दुदेव), **योगसार प्राभृत** (आचार्य अमितगति),

योगमार्ग (आचार्य सोमदेव), **योगसार**-दोहासार (आचार्य योगचन्द्र)। श्वेताम्बर आम्नाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं - **हरिभद्रसूरि** कृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका, षोड़शक आदि। **यशोविजयजी** कृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगलक्षण, पातंजलियोगलक्षण विचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, योगमाहात्म्य आदि ग्रन्थ। योगशास्त्र श्वेताम्बराचार्य **हेमचन्द्रसूरि** कृत प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

इस प्रकार 'योग' जैसा गहन विषय बहु चिन्तित और बहुचर्चित रहा है जिस पर खूब लिखा गया है और आज भी लिखा जा रहा है, क्योंकि मोक्षमार्ग में इसकी उपादेयता निर्विवाद है।

प्रस्तुत ग्रन्थ **योगसार** भी एक प्राचीन विद्वान् कवि रचित संस्कृत भाषा में २०६ श्लोकों का एक लघु ग्रन्थ है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी इस कृति में कहीं भी स्वयं का नामोल्लेख नहीं किया है, अत: उनके बारे में कोई भी ऐतिहासिक तथ्य जाने नहीं जा सकते, *यह बड़े अफसोस की बात है।*

यह ग्रन्थ पहली बार गुजराती भाषान्तर सहित कलकत्ता से श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ के जैन सिद्धान्त प्रकाशक प्रेस से वीर संवत् २४४६ विक्रम संवत् १९७६ में प्रकाशित हुआ था। उसके गुजराती भाषान्तरकर्त्ता, संशोधनकर्त्ता और सम्पादक थे - कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत-प्राकृत भाषा के **प्रोफेसर पण्डित हरगोविन्ददास त्रीकमचन्द शेठ** न्यायव्याकरणतीर्थ। उन्होंने अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना में इस ग्रन्थ की प्राप्त हस्तलिखित प्रति को दो सौ-तीन सौ वर्ष पहले की माना है - *''आ ग्रन्थ नी एक जीर्ण पण शुद्ध प्रति जैनाचार्य श्री विजयवीरसूरिजी तरफथी मने मली हती, जेमां लेखन समयनो उल्लेख न होतो, पण लगभग बसो त्रणसौ वर्ष पहेलांनी ते लखायल हशे, एम तेना आकार ऊपरथी अनुमान करी शकातुं हतुं।''*

अब तक संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ हिन्दी भाषान्तर सहित प्रकाशित नहीं हुआ था। पूज्य साध्वी **प्रियदर्शनाश्रीजी म.सा.** व पूज्य साध्वी **विनीतयशाश्रीजी म.सा.** की प्रेरणा से मैंने श्लोकों का हिन्दी अर्थ लिखा है और अतिसंक्षेप में भावार्थ के माध्यम से श्लोक के भाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक श्लोक को एक शीर्षक भी दिया है।

इस कृति का शीर्षक है 'योगसार'-पहले ही श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिज्ञा है -

प्रणम्य परमात्मानं, रागद्वेषविवर्जितम्।
योगसारं प्रवक्ष्यामि, गम्भीरार्थं समासतः॥

रागद्वेषरहित परमात्मा को प्रणाम करके मैं संक्षेप में, गम्भीर अर्थ वाले 'योगसार' का कथन करता हूँ।

'योगसार' शब्द का कोशपरक अर्थ है - वह उपाय या साधन जिससे मनुष्य सदा के लिए रोग से मुक्त हो जाय। ग्रन्थकार का भी यही प्रयोजन है कि वह भवभ्रमण के रोग से सदा के लिए मुक्त हो जाए, राग से छूटकर वीतराग हो जाए इसीलिए उसने 'प्रतिज्ञा' में ही रागद्वेषविवर्जित परमात्मा को प्रणाम किया है। ग्रन्थकार की यह विशेषता है कि परम्परा से प्राप्त योग सम्बन्धी विशाल वाङ्मय के बावजूद उसने दार्शनिक शब्दावली और योग के भेद प्रभेदों का उल्लेख कर कहीं भी ग्रन्थ को जटिल नहीं बनाया है। मात्र पाँच प्रस्तावों में उन उपायों को अपनाने की प्रेरणा दी है जिनके माध्यम से परमात्मा से जुड़ कर अपनी भगवत्ता प्रकट की जा सकती है- १. **यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक** (४६ श्लोक), २. **तत्त्वसारधर्मोपदेशक** (३८ श्लोक) ३. **साम्योपदेशक** (३१ श्लोक), ४. **सत्त्वोपदेशक** (४२ श्लोक), ५. **भावशुद्धिजनकोपदेशक** (४९ श्लोक)।

प्रथम प्रस्ताव का विषय है कि आत्मविशुद्धि के लिए योगी-साधक को वीतराग का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि **यदा ध्यायति यद् योगी, याति तन्मयतां तदा** (२)। परमात्मा का स्वरूप 'वीतरागपना' है। यदि जरा सा भी राग हो तो अन्य द्वेषादि दुर्गुण अवश्य उत्पन्न हो जायेंगे। (३९) अतः साधक को मोक्षमार्ग पर बढ़ने से पूर्व दृढ़तापूर्वक अपनी बुद्धि में यह स्थिर कर लेना चाहिए कि वीतराग ही देव हैं, अन्य कोई नहीं -

- **वीतरागं यतो ध्यायन् वीतरागो भवेद् भवी। ४२।**
- **वीतरागमतो ध्यायन् वीतरागो विमुच्यते।**
  रागादिमोहितं ध्यायन् सरागो बध्यते स्थितिम्॥४५॥
- **य एव वीतरागः स देवो निश्चीयतां ततः।**
  भवीनां भवदम्भोलिः स्वतुल्यपदवीप्रदः॥४६॥

दूसरे प्रस्ताव का विषय है कि साधक को मताग्रह, दुराग्रह, दृष्टिराग को छोड़कर तत्त्वज्ञान के माध्यम से अपनी दृष्टि को स्वच्छ, निर्मल करना चाहिए क्योंकि **दृष्टिरागेण मोहिताः स्वाग्रहग्रस्ता क्लिश्यन्ते** (१) मोह, मद, मात्सर्यभाव का परित्याग कर मैत्री आदि भावनाएँ भानी चाहिए क्योंकि -

धर्मकल्पद्रुमस्यैता मूलं मैत्र्यादिभावनाः।
यैर्न ज्ञाता न चाभ्यस्ता स तेषामतिदुर्लभः॥७॥

मत्सरी परस्पर नाश को प्राप्त होते हैं। (११) परदोषग्रहण संसार का कारण है।(१२) चित्त का समत्व योग का लक्ष्य है। (१७) कलुषित मन अकार्यकारी है। (२०) चित्त की निर्मलता के अभाव में सब क्रियाकाण्ड निरर्थक हैं।(२२)

किं क्लिष्टेन्द्रियरोधेन, किं सदा पठनादिभिः।
किं सर्वस्वप्रदानेन, तत्त्वं नोन्मीलितं यदि? ॥२३॥

इसलिए -

तथा चिन्त्यं तथा वाच्यं चेष्टितव्यं तथा-तथा।
मलीमसं मनोऽत्यर्थं, यथा निर्मलतां व्रजेत् ॥२८॥

धर्म साधना से उपलब्ध होता है, न यह वंशानुगत है, न यह मात्र अनुकरण से प्राप्त होता है और न अन्ध श्रद्धा से। सही समझ रख कर की जाने वाली क्रिया जो समभाव उत्पन्न करने में सहायक होती है, वही धर्मक्रिया है। तत्त्वविचार पूर्वक साधक को इसी दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

तीसरे प्रस्ताव का विषय है कि साम्यभाव से ही मोह को जीता जा सकता है। विषय और कषाय दुःखरूप ही हैं। परिग्रह संसार बढ़ाने वाला है। समतारूपी सुख के आगे सब सुख फीके हैं -

नोपेन्द्रस्य न चेन्द्रस्य तत्सुखं नैव चक्रिणः।
साम्यामृत-विनिर्मग्नो योगी प्राप्नोति यत् सुखम् ॥७॥

सारी साधना, तपश्चर्या, शास्त्रज्ञान, योगधारण - साम्यभाव की प्राप्ति के लिए ही है -

- **श्रुतश्रामण्ययोगानां प्रपञ्चः साम्यहेतवे ॥१९॥**
- **निःसंगो निर्ममः शान्तो निरीहः संयमे रतः।**
  यदा योगी भवेदन्तस्तत्त्वमुद्भासते तदा ॥२९॥

चतुर्थ प्रस्ताव का विषय है कि तामसिक और राजसिक प्रवृत्ति में निमग्न रहने वाले धर्म धारण नहीं कर सकते अतः **सत्त्वे चित्तं स्थिरीकुरु**। हीनसत्त्व प्राणी संसार में आसक्त होता है अतः वह सावद्यक्रियाओं में संलग्न हो जाता है। परीषहजय कठिन है। उपसर्ग में धैर्य और असंयम में भीरुता अपेक्षित है। कामासक्त धर्म में रति नहीं कर सकता है। साधु होने पर भी हीनचित्त को उदरपूर्ति की चिन्ता रहती है और इसके लिए वह अनेक अनर्थ कर लेता है। आरम्भी, परिग्रही की मुक्ति नहीं होती। अतः

- **ततः सत्त्वमवष्टभ्य त्यक्त्वा कुग्राहिणां ग्रहम्।**
  क्रियतां भोः! सुधर्मस्य करणायोद्यमः सदा ॥४२॥

पंचम प्रस्ताव का विषय है - भावशुद्धि। साधक को सदैव प्रत्येक क्रिया में सतर्क रहना है - **कायेन मनसा वाचा यत् कर्म कुरुते सदा।**
सावधानस्तदा तत्त्वधर्मान्वेषी मुनिर्भवेत् ॥१॥

तत्त्व और धर्म का अन्वेषण करने वाला साधक प्रमादी नहीं होता। मन पवित्र होता है तो वाणी और क्रिया भी शुद्ध या शुभ ही होती है। प्रत्येक संसारी प्राणी अपने कर्मों का फल स्वयं ही भोगता है, अतः उसे सावधानी रखनी चाहिए।

निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यानं निरुन्ध्यादयतं वचः।
निरुन्ध्यात्कायचापल्यं तत्त्वतल्लीनमानसः॥६॥

साधक को दृढ़ कर्मबन्ध कराने वाली चेष्टायें नहीं करनी चाहिए। सदैव औचित्य का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि

औचित्यं परमो बन्धुरौचित्यं परमं सुखम्।
धर्मादिमूलमौचित्यमौचित्यं जनमान्यता॥११॥

इस प्रकार भावशुद्धिपूर्वक सदाचार, संयम और व्रतों का पालन करने वाला साधक विषय और कषाय के द्वन्द्वों से दूर होकर, आत्मस्वरूप में रमण करता हुआ सब प्रकार के क्लेशों से रहित परम पद मोक्ष को प्राप्त करता है।

ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में पैंतालीस आगमों की सूची दी गई है।

आभार

मैं **साध्वीद्वय** का आभारी हूँ कि आपने मुझे इस शुभ कार्य में प्रवृत्त किया। यह संस्करण आपकी प्रेरणा का ही सुफल है।

इस कृति के प्रस्तुतीकरण में मुझे सर्वाधिक सहयोग मिला है मेरे हितैषी **श्री रत्नवीरजी जैन** से। आप इस संस्करण की पाण्डुलिपि के पहले पाठक हैं। आपके रचनात्मक सुझावों से कृति का गौरव बढ़ा है। साध्वीद्वय से सम्पर्क साधने में आप ही माध्यम रहे हैं। यों कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कृति के प्रबन्ध सम्पादकत्व के उत्तरदायित्व का निर्वाह आपने ही किया है। आपकी साधु संगति और स्वाध्याय की रुचि दिनानुदिन वृद्धिंगत हो, यही शुभकामना करता हूँ।

कृति के प्रकाशक **श्री खरतरगच्छ महिला मण्डल, पाली-मारवाड़** को इस श्रुतसेवा के लिए बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि श्रुत में उनकी भक्ति निरन्तर बनी रहे।

सुरुचिपूर्ण संकल्पना के लिए **निधि कम्प्यूटर्स** और मोहक मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिण्टिंग हाउस** को भी धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

प्रस्तुतीकरण में रही त्रुटियों का उत्तरदायित्व मेरा है। मेरे अज्ञान से जिनाज्ञाविपरीत कुछ लिखने में आ गया हो तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं'। कहीं कोई भाव अस्पष्ट रह गया हो, कहीं विरोधाभास लगता हो तो ज्ञानी गुरुओं से समाधान प्राप्त करने हेतु निवेदन है।

इत्यलम्। **जैनं जयति शासनम्।**

५४-५५, इन्द्रा विहार
सेक्शन ७ विस्तार
न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
१२ जून २००५

ॐ

योगसारः

प्रथमः प्रस्तावः यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशकः

मंगलाचरण और ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा

प्रणम्य परमात्मानं, रागद्वेषविवर्जितम्।
योगसारं प्रवक्ष्यामि, गम्भीरार्थं समासतः ॥१॥

अर्थ - राग-द्वेष रहित परमात्मा को प्रणाम करके मैं संक्षेप में, गम्भीर अर्थवाले योगसार का कथन करता हूँ॥१॥

भावार्थ : जैन दर्शन के अनुसार कोई भी आत्मा रागद्वेष का परित्याग किये बिना परमात्मा नहीं बन सकता है। परमात्मा रागी-द्वेषी नहीं होते, वे वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। जीव के तीन भेद हैं- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीर और आत्मा को जो एक मानता है वह अज्ञानी बहिरात्मा जीव है। नाशवान शरीर से चैतन्य स्वरूप अपने आत्मद्रव्य को भिन्न मानने वाली आत्मा अन्तरात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव, अणुव्रती श्रावक और महाव्रती साधु अन्तरात्मा हैं और जो आत्माएँ कर्ममल से रहित हो गई हैं तथा परमपद में स्थित हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं।

"जिसने रागद्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।"

रागद्वेष का अभाव सर्वज्ञता में कारण है और सर्वज्ञता ही निस्पृह उपदेश में निमित्त है।

ग्रन्थकार ऐसे गुण वाले परमात्मा को प्रणाम करके, संक्षेप में 'योगसार' ग्रन्थ को रचने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह ग्रन्थ पाँच प्रस्तावों में विभक्त कुल २०६ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण है।

वीतराग का ही ध्यान करना चाहिए

यदा ध्यायति यद् योगी, याति तन्मयतां तदा।
ध्यातव्यो वीतरागस्तद्, नित्यमात्मविशुद्धये ॥२॥

अर्थ - योगी जिस समय जिसका ध्यान करता है, उस समय वह उस रूप हो जाता है अत: आत्मविशुद्धि के लिए हमेशा वीतराग का ही ध्यान करना चाहिए॥२॥

भावार्थ - यह सभी के अनुभव में आता है कि हम जैसा सोचते हैं या जैसा ध्यान करते हैं उस समय हम उसी रूप हो जाते हैं- What you think, you become.

संसारी आत्मा कर्मकलंक से मुक्त हो विशुद्ध बनना चाहता है। अत: वह रागद्वेष से विमुक्त वीतराग परमात्मा का ध्यान करता है, इससे उसकी आत्मविशुद्धि बढ़ती है अर्थात् वह स्वयं भी वीतराग बनने के पुरुषार्थ में प्रवृत्ति करता है। किसी रागी-द्वेषी का ध्यान करने से तो रागद्वेष के परिणाम ही वृद्धिंगत होंगे जिससे भव भ्रमण ही बढ़ेगा।

ग्रन्थकार दृढ़ता से बात पर बल दे रहे हैं कि आत्मविशुद्धि के लिए तो साधक को वीतराग का ही ध्यान करना चाहिए, किसी ओर का नहीं। वीतराग का ध्यान करने से वीतरागता वृद्धिंगत होती है जो शाश्वत सुख प्राप्ति में सहायक होती है।

योग शब्द का सामान्य अर्थ है जोड़- साधना के क्षेत्र में इसका अभिप्राय है आत्मा का परमात्मा से जुड़ाव। पारिभाषिक अर्थ में मन-वचन और काय को भी योग कहते हैं- जिनसे कर्मों का आस्रव होता है परन्तु यदि तीनों को परमात्मा से जोड़ दिया जाए तो उस एकाग्र ध्यान से कर्मों

की निर्जरा भी होती है। यहाँ योग ध्यान का पर्याय है। नियमसार में कहा है-

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो॥१३९॥

अर्थ - विपरीत अभिनिवेश का परित्याग करके जो जिनकथित तत्त्वों में आत्मा को लगाता है, उसका निजभाव वह योग है।

योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान- ये एकार्थवाची नाम हैं। सर्वार्थसिद्धि ६/१२/३३१/३

योग का अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है। रा.वा ६/१/१२/५०५/२७

साम्य, समाधि, चित्तनिरोध व योग एकार्थवाची हैं।

बहिरन्तर जल्प को रोक कर चित्त निरोध करना भी योग है।

ग्रन्थकर्त्ता ने योगी को 'वीतराग' का ध्यान करने का परामर्श दिया है।

आत्मा शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है

शुद्धस्फटिकसंकाशो, निष्कलश्चात्मनाऽऽत्मनि।
परमात्मेति स ज्ञातः प्रदत्ते परमं पदम्॥३॥

अर्थ - जो साधक आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा में शुद्ध स्फटिक के समान निकल परमात्म स्वरूप को जानता है, उसका यह जानना ही उसे परम पद मोक्ष प्रदान करता है॥३॥

भावार्थ - परमात्मा के दो रूप हैं १ सकल और २ निकल। स=सहित और कल=शरीर अर्थात् शरीर सहित को सकल कहते हैं। नि=रहित, निकल गया है शरीर जिनका अर्थात् जो शरीर रहित हो गए हैं वे निकल परमात्मा हैं। अरहन्त परमेष्ठी सकल परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा

हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप यही दशा है। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध स्फटिक के समान परम शुद्ध और उज्ज्वल है। तीन प्रकार के कर्म मल से रहित है- ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म द्रव्यकर्म हैं; राग-द्वेष, मोहरूप विभाव परिणाम भाव कर्म हैं और औदारिक आदि चार शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण नोकर्म कहलाता है। पाँचवाँ जो कार्मण शरीर सो कर्मरूप ही है।

जो साधक अपनी आत्मा के इस स्वरूप का ज्ञान कर उसमें दृढ़ता रखता है, वह अपनी इस समीचीन दृष्टि से परम पद को उपलब्ध होता है।

शुद्ध स्फटिक निर्मल और उज्ज्वल होता है, उसके समीप रखे रंगीन पदार्थ की झांई उसके रंगीन होने का आभास कराती है परन्तु वास्तव में वह रंग स्फटिक का निज स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से विकारी नहीं है, कर्ममल सहित नहीं है परन्तु राग, द्वेष और मोह के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है, जबकि स्वभाव से वह भी शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है। यही दृष्टि साधक आत्मा को अन्तरात्मा बनाकर परमात्मपद तक पहुँचा देती है।

समभाव ही आत्मा के परमात्मस्वरूप का प्रकाशक है

किन्तु न ज्ञायते तावद्, यावद् मालिन्यमात्मनः।
जातिसाम्येन नैर्मल्ये, सः स्फुटः प्रतिभासते ॥४॥

अर्थ - किन्तु जब तक आत्मा में मलिनपना रहता है तब तक उसका परमात्मपना जाना नहीं जाता। निर्मल समभाव के उत्पन्न होने पर ही- यानी रागद्वेष मोह रूपी मलिनता के अभाव होने पर ही वह परमात्मस्वरूप प्रतिभासित होता है॥४॥

भावार्थ - बहिरात्मा से परमात्मा होने की यात्रा समभाव को, साम्यभाव को उपलब्ध होने की यात्रा है या यों कहें बाहर से हटकर पूर्ण समभाव में भीतर में स्थित रहने का सार्थक प्रयास है। रागद्वेष या कर्ममलिन

आत्मा निज स्वरूप को उपलब्ध नहीं हो पाती। जब उसमें निर्मल साम्यभाव का उदय होता है तब वह अपने परमात्मस्वरूप का परिचय पाती है और शनैः शनैः इस सामायिक साधना से एक दिन सकल परमात्मा होकर निकल परमात्मपद को प्राप्त करती है।

विषमता ही बन्धन है। समता मुक्ति है।

कषायों के नाश से आत्मा साम्यभाव को प्राप्त करता है

तत्त्वनन्तानुबन्ध्यादि-कषायविगमक्रमात्।
आत्मनः शुद्धिकृत् साम्यं शुद्धं शुद्धतरं भवेत्॥५॥

अर्थ - आत्मा को शुद्ध करने वाला साम्यभाव अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के क्रमिक नाश से शुद्ध और शुद्धतर होता जाता है॥५॥

भावार्थ - पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार ने कहा था कि समभाव से ही परमात्मपने की उपलब्धि होती है। यहाँ वे बता रहे हैं कि समभाव की उत्पत्ति में बाधक कारणों-अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के क्रमिक नाश से आत्मा शुद्ध-शुद्धतर और शुद्धतम बनता है। आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले दो कारण हैं-

'आतम के अहित विषय कषाय'

पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति और कषाय आत्मा का अहित करते हैं। कषाय के पच्चीस भेद हैं- अनन्तानुबन्धी क्रोधमानमायालोभ, अप्रत्याख्यान क्रोधमान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोधमान माया लोभ = १६ कषाय और नौ-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद नोकषाय १६+९ = २५ भेद।

कषाय शब्द कष् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है मारना, हिंसा करना। अतः जो आत्मा को कषती है, उसकी हिंसा करती है, उसे दुर्गति में ले जाती है वह कषाय है। कषायों का कार्य के कर्मों के साथ आत्मा सम्बन्ध में कारण होता है। जैसे पीपल की छाल, हरड़, बहेड़ा काषाय

होकर वस्त्र में मंजिष्ठा रूप श्लेष का कारण होते हैं अर्थात् जिनके कारण वस्त्र में रंग विशेष रूप से आता है वैसे ही क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय व हास्यादि नोकषाय आत्मा के कर्मश्लेष में कारण होती हैं। ये ही आत्मा को मलिन करती हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय समीचीन दृष्टि-सम्यग्दर्शन नहीं होने देती, अप्रत्याख्यान कषाय अणुव्रत रूप चारित्रग्रहण में बाधक होती हैं, प्रत्याख्यान कषाय महाव्रत नहीं धारण करने देती और संज्वलन कषाय यथाख्यात रूप चारित्र में अवरोध उत्पन्न करती हैं। नो कषाय भी निज स्वरूप की उपलब्धि में बाधक हैं। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि क्रम-क्रम से जब इन कषायों का नाश होता है तो आत्मा का स्वभाव-साम्य भाव शुद्ध-शुद्धतर होता जाता है और इनके सर्वथा अभाव से आत्मा अपने पूर्ण साम्यभाव-समरसता को प्राप्त कर लेता है, यही समभाव की साधना है। इसके बिना जीव का संसार परिभ्रमण समाप्त नहीं होता।

समभाव से आत्मस्वरूप में प्रभु भासमान होता है

साम्यशुद्धिक्रमेणैव स विशुद्ध्यते आत्मनः।
सम्यक्त्वादिगुणेषु स्यात् स्फुटं स्फुटतरः प्रभुः ॥६॥

अर्थ - (पूर्व श्लोक में कथित) क्रम-क्रम से आत्मा के साम्यभाव की शुद्धि होने पर वह विशुद्धि को प्राप्त होता है और (आत्मा में) सम्यक्त्वादि गुणों में वह प्रभु परमात्मा विशेष-विशेषतर भासमान होता है॥६॥

भावार्थ - कषाय कालिमा के शनैःशनैः दूर होने पर आत्मा का साम्यभाव, समता बढ़ती जाती है जिससे आत्मा विशुद्धि को प्राप्त होता है। विशुद्ध आत्मा में सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप गुणों का विकास होता है जिससे आत्मा का परमात्मपना स्पष्टतः भासमान होने लगता है।

जिस तरह खटाई लगाने पर बर्तन की कालिमा दूर होकर उसका मौलिक उज्ज्वल शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है उसी तरह कर्म कालिमा, कषाय कालिमा को वीतरागता (साम्यभाव) से दूर करने पर उसका शुद्ध स्वरूप-परमात्मस्वरूप प्रकट होता है।

मोह के सम्पूर्णक्षय से आत्मा परमात्मा हो जाता है

सर्वमोहक्षयात् साम्ये सर्वशुद्धे सयोगिनि।
सर्वशुद्धात्मनस्त्वेष प्रभुः सर्वस्फुटी भवेत् ॥७॥

अर्थ - सम्पूर्ण मोह का क्षय होने पर साम्यभाव से सर्व प्रकार से शुद्ध हुई सयोगी आत्मा में सर्वशुद्ध आत्मा-परमात्मा प्रभु स्पष्ट प्रकट होता है अर्थात् वह आत्मा ही परमात्मस्वरूप को उपलब्ध होती है॥७॥

भावार्थ - मोहनीय कर्म को कर्मों का राजा कहा जाता है। इसके क्षय होने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध स्वरूप में प्रकट होता है। यह सकल परमात्मा की स्थिति है- शास्त्रीय भाषा में इसे सयोगकेवली कहते हैं, यही अरिहन्त अवस्था है। परमात्मा यहाँ सशरीर विद्यमान रहता है। जब तक आयु कर्म रहता है यही स्थिति रहती है। आयु कर्म के समाप्त होते ही वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार आठों कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा सिद्ध स्वरूप में प्रकट होती है। इस दशा को निकल परमात्मा की स्थिति कहा जाता है। यही सिद्धावस्था या पूर्ण मुक्तावस्था है जहाँ से फिर आत्मा को संसार में नहीं लौटना पड़ता, उसका संसार-परिभ्रमण सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

कषायरहित आत्मा ही परमात्मा होता है

कषाया अपसर्पन्ति यावत् क्षान्त्यादिताडिताः।
तावदात्मैव शुद्धोऽयं, भजते परमात्मताम् ॥८॥

अर्थ - क्षमादि भावों से ताड़ित हुई क्रोधादि कषायें जब पीछे हटती हैं यानी नष्ट होती हैं तब शुद्ध हुआ यह आत्मा ही परमात्मपने को प्राप्त होता है॥८॥

भावार्थ - आत्मा के स्वभाव भावों क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच इत्यादि से जब क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय नष्ट कर दिये

जाते हैं तब निष्कषाय आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट होता है, आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप ही उसकी परमात्मावस्था है। कषाय ही आत्मा को मलिन करते हैं, विकारी बनाते हैं, इनका नाश होते ही आत्मा अविकारी शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। कर्मकलंक, कषाय कालिमा से रहित आत्मा ही परमात्मा कहलाता है।

कषाय परमात्मपने को प्रकट नहीं होने देते

उपसर्पन्ति ते यावत् प्रबलीभूय देहिषु।
स तावद् मलिनीभूतो जहाति परमात्मताम् ॥९॥

अर्थ - जब तक वे (कषाय) प्रबल होकर देहधारियों में विद्यमान रहते हैं तब तक उनसे मलिन हुआ आत्मा, परमात्मपने का परित्याग करता है अर्थात् कषायों के सद्भाव में परमात्मपना प्रकट नहीं होता॥९॥

भावार्थ - कषाय विषमता उत्पन्न करने वाले हैं, राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं, इनसे आत्मा का शुद्ध स्वरूप विकारी बन जाता है, उसकी स्वाभाविक समता विनष्ट हो जाती है, समता के अभाव में वह निज स्वभाव में नहीं रह पाता और कर्माधीन बना हुआ चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अतः साधक आत्मा को क्षमादि रूप सहज स्वभाव से इन कषायों पर विजय पानी चाहिए।

कषायों और नोकषायों का नाश करो

कषायास्तद् निहन्तव्यास्तथा तत्सहचारिणः।
नोकषायाः शिवद्वारार्गलीभूता मुमुक्षुभिः ॥१०॥

अर्थ - इसलिए मुक्ति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा कषाय और उनके सहचारी नोकषाय-जो मोक्षद्वार की अर्गला हैं- नष्ट किये जाने चाहिए।

भावार्थ - सोलह कषाय और नौ नोकषाय-कषाय के ये पच्चीस भेद आत्मा का सर्वाधिक अहित करने वाले हेतु हैं, इनसे कर्मों का आस्रव

होता है, बंध होता है। कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ जीव चतुर्गतिरूप संसार के दु:खों को भोगता रहता है। उसके लिए मोक्ष का द्वार सदैव बन्द रहता है क्योंकि उस पर कषायों की अर्गला लगी रहती है। अत: मुक्ति की चाह रखने वाले जीवों को कषायों को नष्ट करने का उपक्रम करना चाहिए। इनको नष्ट किये बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती।

निज भावों से कषायों का शमन करना चाहिए

हन्तव्य: क्षमया क्रोधो, मानो मार्दवयोगत:।
माया चार्जवभावेन, लोभ: सन्तोषपोषत: ॥११॥

अर्थ - क्षमा से क्रोध का, मार्दव से मान का, आर्जव से माया का और सन्तोष से लोभ का नाश करना चाहिए॥११॥

भावार्थ - आत्मा के निजी भावों-स्वभाव से विकारी भावों को नष्ट करना चाहिए। क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष ये आत्मा के स्वाभाविक भाव हैं जबकि क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय विकारी भाव हैं- ये आत्मा को दु:ख देते हैं। कोई भी मानव विभाव भाव में अधिक समय तक नहीं रह सकता जबकि स्वभाव भाव में वह चिरकाल तक रह सकता है। अत: कषाय भावों का नाश करने का पुरुषार्थ जीव को अवश्यमेव करना चाहिए ताकि स्वाभाविक सहज सुख उपलब्ध हो सके। क्षमा, मृदुता, ऋजुता और शुचिता-सन्तोष आदि आत्मा के इन सहज भावों को पुष्ट करके इनके विरोधी भावों क्रोध, मान, माया और लोभ को नष्ट किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में किसी भी पर के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। आत्मा स्वयं विचारपूर्वक इन भावों के उदित होने पर गहराई से इनका अवलोकन करे तो ये निष्फल हो सकते हैं; लोक में भी यदि चोर को कोई अन्य चोरी करते देख ले तो फिर वह चोर चोरी करने का दुस्साहस नहीं करता, उससे विमुख हो जाता है। कषायादि विकारी भाव आत्मा की शान्ति को चुरा लेते हैं, इनके वशीभूत हुआ जीव संसार-परिभ्रमण ही करता रहता है। अत: इनको आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ अपेक्षित है।

हर्षः शोको जुगुप्सा च भयं रत्यरती तथा।
वेदत्रयं च हन्तव्यं तत्त्वज्ञैर्दृढधैर्यतः ॥१२॥

अर्थ - हर्ष, शोक, जुगुप्सा, भय, रति, अरति, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय हैं। तत्त्वज्ञों को दृढ़धैर्यपूर्वक इनका भी नाश करना चाहिए॥१२॥

भावार्थ - पूर्व श्लोक में रचनाकार ने कषायों (क्रोध-मान-माया-लोभ) के नाश की बात कही थी। इस श्लोक में वे नव नोकषायों के नाश की प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि तत्त्वों के ज्ञाताओं को बड़ी धीरता से इन नव नोकषायों का शमन करना चाहिए। क्योंकि ये कषाय और नोकषाय आत्मा का अहित करते हैं।

ग्रन्थकार ने श्लोक में 'हर्षः' शब्द का प्रयोग किया है पर उनका अभिप्राय आगमोक्त हास्य कषाय से ही है।

जिस कर्म के उदय से हँसी आती है वह हास्य कर्म है। जिस कर्म के उदय से मनोहर वस्तुओं में परम प्रीति होती है वह रति है, रति से विपरीत अरति है। जिसके उदय से शोक होता है वह शोक है, जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय है, जिसके उदय से आत्मदोषों का संवरण और परदोषों का आविष्करण होता है, वह जुगुप्साकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव स्त्री सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है। योनि, कोमलता, भयशील होना, मुग्धपना, पुरुषार्थ शून्यता, स्तन और पुरुषभोग की इच्छा ये सात स्त्रीवेद के लक्षण हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह पुरुषवेद है। लिंग, कठोरता, स्तब्धता, शौण्डीरता (अभिमान), दाढ़ी-मूँछ, जबर्दस्तपना और स्त्रीभोग-इच्छा ये सात पुंवेद के सूचक लक्षण हैं।

जिस कर्म के उदय से नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है,

वह नपुंसक वेद है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद के सूचक १४ चिह्न मिश्रित रूप में नपुंसक वेद के लक्षण हैं।

तत्त्वज्ञ-सम्यग्दृष्टि पुरुष को अपने विवेक से बड़ी धीरतापूर्वक इन नोकषायों से अपनी आत्मा को परे रखने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

कषाय-नोकषाय के नष्ट होने पर आत्मा ही परमात्मा हो जाता है

रागद्वेषमयेष्वेषु हतेष्वान्तरवैरिषु।
साम्ये सुनिश्चले पायादात्मैव परमात्मताम् ॥१३॥

अर्थ - राग और द्वेष से परिपूर्ण (कषाय और नोकषाय रूप) इन अन्तरंग शत्रुओं के नष्ट होने पर निश्चल साम्यभाव (की विद्यमानता) में यह आत्मा ही परमात्मपने को प्राप्त होता है॥१३॥

भावार्थ - कषाय और नोकषाय रूप रागद्वेष ही आत्मा के परमात्मा होने में बाधा उपस्थित करते हैं अत: ग्रन्थकार कहते हैं कि इन आन्तर शत्रुओं का नाश करना चाहिए। इनके नष्ट होने पर आत्मा का सहज स्वाभाविक साम्य भाव प्रकट होता है, यह साम्य भाव ही स्वभाव है, शुद्धोपयोग है, आत्मा की सहजदशा है, परमात्मपना है।

बहिरात्मपने से परमात्मपने की इस यात्रा में क्रम-क्रम से कषाय और नोकषाय भावों का परित्याग होता है तथा साम्य भाव या संतुलन दशा क़ा विकास होता है। एक का नाश ही दूसरे का विकास है। इनके पूर्ण नाश पर ही परमात्मपने की उपलब्धि होती है, एक बार इस दशा को प्राप्त कर लेने पर जीव के संसार का अन्त हो जाता है और वह सदाकाल के लिए अनन्त चतुष्टय-अनन्त दर्शन, ज्ञान, बल, सुख का धनी हो जाता है।

रागादि के अभाव में आत्मा ही परमात्मा है

स तावद् देहिनां भिन्नः सम्यग् यावद् न लक्ष्यते।
लक्षितस्तु भजत्यैक्यं रागाद्यञ्जनमार्जनात् ॥१४॥

अर्थ - जब तक आत्मा की ठीक-ठीक सम्यक् पहचान नहीं होती तभी तक वह परमात्मा से भिन्न ज्ञात होता है परन्तु रागादि कालिमा के सम्मार्जन से जब वह ठीक-ठीक पहचानने में आता है तब आत्मा और परमात्मा की एकता ही लक्ष्य में आती है॥१४॥

भावार्थ - संसारी जीव जब अपने आपको कषायों से आवृत देखता है तो यह मान बैठता है कि ये ही उसके स्वभाव हैं और वह परमात्मा से अपने आपको अलग समझने लगता है। उसकी आत्मा वर्तमान में कषायों की गुदड़ी बनी हुई है- अत: उसे यह प्रतीति नहीं हो पाती कि यह आत्मा ही परमात्मा हो सकती है। जैसे जो बर्तन दीर्घकाल से चूल्हे पर चढ़ाया जाता रहा है उस पर कालिख जमती चली जाती है और प्रयोगकर्त्ता यही मान बैठता है कि यह बर्तन की स्वाभाविक कालिमा है परन्तु कदाचित् कभी खटाई के प्रयोग से जब उसकी कालिमा हट कर बर्तन की स्वाभाविक चमक प्रकट होती है तो उसे यह प्रतीति होती है कि कालिमा पर वस्तु है, बर्तन की निजी नहीं है तब वह पुरुषार्थ करके उस कालिमा को हटाता है तो मार्जित पात्र अपनी स्वाभाविक चमक प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार जब पुरुषार्थी आत्मा अपने से संयुक्त हुई रागादि कालिमा को वीतरागता की खटाई से पृथक् करता है तो उसे अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान होती है और यकीन होने लगता है कि उसका आत्मा ही परमात्मा है।

लोक में यही प्रचलित है कि 'आत्मा सो परमात्मा,' नर में नारायण का निवास है। लोक का यह कथन शास्त्र का कथन ही है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। उसका स्वरूप भी सिद्ध के समान है- अन्तर है तो रागादि कषायों का - **'वह विराग यह रागवितान।'**

अत: आत्मा की सम्यक् पहचान अपेक्षित है, निज स्वरूप की उपलब्धि के लिए उसका समीचीन ज्ञान अपेक्षित है।

मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

कर्मरहित आत्मा ही परमात्मा है

यादृशोऽनन्तवीर्यादिगुणोऽतिविमलः प्रभुः।
तादृशास्तेऽपि जायन्ते कर्ममालिन्यशोधनात् ॥१५॥

अर्थ - जैसे परमात्मा अनन्तवीर्यादि (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख) गुणों से अत्यन्त निर्मल हैं वैसे ही संसारी आत्माएँ भी कर्म रूपी मलिनता का शोधन हो जाने के बाद उन जैसी ही हो जाती हैं॥१५॥

भावार्थ - जैन धर्म और दर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने का सामर्थ्य है। परमात्मा कोई भिन्न या व्यक्ति विशेष नहीं है कि अब कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जितने जीव कर्म कालिमा से मुक्त हो जाते हैं वे सब परमात्मा हो जाते हैं। बहिरात्मा ही अन्तरात्मा होकर परमात्मा बनता है। परमात्मा और संसारी जीव में बस इतना ही अन्तर है कि अभी संसारी आत्मा त्रिविध कर्मों से द्रव्य, भाव, नोकर्म से लिप्त है। पुरुषार्थ करके जब वह अपने आपको इस मल से अलग कर लेगा तो वह भी परमात्मा हो जाएगा- उसमें भी अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जायेंगे, वह भी परमात्मा कहलाने लगेगा। जैन दर्शन की मान्यतानुसार अनेक जीवात्माएँ परमात्मा भगवन्त हो चुकी हैं और आज भी हो रही हैं और आगे भी होंगी।

कर्मनिर्मुक्त आत्मा ही परमात्मा है

आत्मानो देहिनो भिन्नाः कर्मपङ्ककलङ्किताः।
अदेहः कर्मनिर्मुक्तः परमात्मा न भिद्यते ॥१६॥

अर्थ - कर्मरूपी कीचड़ से कलङ्कित मलिन हुई आत्माएँ परमात्मा से भिन्न हैं। कर्मरहित, अशरीरी आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है॥१६॥

भावार्थ - संसार में जीवराशि में जो विचित्रता दृष्टिगोचर हो रही है वह सब कर्मकृत है क्योंकि सब आत्माओं के कर्म भिन्न-भिन्न हैं परन्तु कर्मरहित जितनी भी आत्माएँ हैं वे सब समान हैं।

कर्मसहित आत्मा और कर्मरहित परमात्मा भिन्न हैं परन्तु कर्मरहित आत्मा ही परमात्मा है, दोनों में कोई भेद नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार कर्ममुक्त आत्माएँ संसार में नहीं लौटतीं, वे अनन्तानन्त काल तक अनन्त चतुष्टय से युक्त रहती हैं, उन आत्माओं में भिन्नता का कोई कारण विद्यमान नहीं है।

संख्यापेक्षा अनेक पर गुणापेक्षा एक परमात्मा

संख्ययाऽनेकरूपोऽपि गुणतस्त्वेक एव सः।
अनन्तदर्शनज्ञान वीर्यानन्द गुणात्मकः ॥१७॥

जातरूपं यथा जातं बहुरूपमपि स्थितम्।
सर्वत्रापि तदेवैकं परमात्मा तथा प्रभुः ॥१८॥

अर्थ - अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप गुणों वाला परमात्मा संख्या की अपेक्षा अनेक रूपों में होता हुआ भी गुणों की अपेक्षा तो समान होने के कारण एक ही है, जैसे उत्तम स्वर्ण अनेक-अलग-अलग आकारों में रहते हुए भी (स्वर्ण की) अपेक्षा तो सर्वत्र एक समान ही है॥१७-१८॥

भावार्थ - संख्या की अपेक्षा मुक्त आत्माएँ - जीवनमुक्त अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी अनेक हैं। अनन्त जीव कर्ममुक्त हो चुके हैं पर अब वे सब आत्माएँ गुणों की अपेक्षा समान हैं। आठ मूल कर्म प्रकृतियों- ज्ञानावरणादि के नाश से सिद्ध परमात्मा में आठ गुण प्रकट हो जाते हैं।

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अकषायत्व रूप चारित्र, जन्म-मरण रहितता (अवगाहनत्व), अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), नीच-ऊँच रहितता (अगुरुलघुत्व), पंच क्षायिक लब्धि (अर्थात् क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य) ये गुण सिद्धों में आठ कर्मों के क्षय से उत्पन्न हो जाते हैं। (धवल ७/२,१,७ गाथा ४-११)

इन गुणों की दृष्टि से सभी मुक्तात्मायें समान हैं।

संत दादूदयाल कहते हैं-

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, उनकी एकै जाति॥

सिद्ध अवस्था का स्वरूप

आकाशवदरूपोऽसौ चिद्रूपो निरुजः शिवः।
सिद्धिक्षेत्रगतोऽनन्तो नित्यः शं परमश्नुते॥१९॥

अर्थ - वह परमात्मा आकाश की भाँति अरूप-अमूर्त है तथा चिद्रूप, नीरोग, शिव (सुखी), सिद्धिक्षेत्रगत, अनन्त और नित्य है तथा उत्कृष्ट सुख का भोग करने वाला है॥१९॥

भावार्थ - सिद्ध परमेष्ठी-मुक्त जीव-कर्ममल से मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोक के अन्त को प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त, अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। उनके त्रिविध कर्ममल नष्ट हो चुके हैं अतः वे परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं।

जहाँ पर जन्म-जरा-मरण, भय, संयोग-वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादि नहीं होते हैं- वह सिद्धगति कहलाती है। (ध. १/१, २४ गाथा १३२)

जिन्होंने नाना भेद रूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखरस्वरूप हैं, दुःखों से रहित हैं, सुखरूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांग से अथवा समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं, वे सिद्ध हैं। (ध. १/१, १, १/ गा. २६-२८)

शुद्ध जीव कर्ममुक्त आत्मा अमूर्त है, अरूपी है। षड् द्रव्यों में केवल पुद्गल ही रूपी है, शेष सभी द्रव्य अरूपी-अमूर्त हैं। चिद्रूप यानी शुद्ध

चेतना-ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग से युक्त हैं, रोगरहित हैं, शिव हैं, सिद्धि-क्षेत्रगत यानी लोक के शिखर-सिद्धशिला पर अवस्थित हैं, अनन्त काल तक इसी दशा में रहने वाले हैं अत: नित्य हैं और परम आत्मिक सुख का उपभोग करने वाले हैं।

सभी शुद्ध आत्माओं - परमात्मा, परमेश्वर, सिद्ध परमेष्ठी, मुक्त जीव का यही स्वरूप है।

पुनि घाति शेष अघातिविधि, छिन माँहि अष्टम भू बसै।
वसुकर्म विनसै सुगुणवसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसै॥

संसार खार अपार, पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये॥१२॥

निज माँहि लोक अलोक गुण परजाय प्रतिबिम्बित थये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥१३॥

– छहढाला-छठी ढाल

परमात्मा समदर्शी है

येनैवाराधितो भावात् तस्यासौ कुरुते शिवम्।
सर्वजन्तुसम:यस्य न परमात्मविभागिता॥२०॥

अर्थ - जो जीव भावपूर्वक (ऐसे परमात्मा की) आराधना करता है, उसका ये कल्याण करते हैं। परमात्मा के लिए सब प्राणी समान हैं, उनका किसी के प्रति पक्षपात नहीं है॥२०॥

भावार्थ - इस श्लोक में प्रथम पंक्ति में जो बात कही गई है, दूसरी पंक्ति उसका विरोध करती प्रतीत होती है। पहली पंक्ति यह कहती है कि जो जीव भावपूर्वक परमात्मा की आराधना करता है, परमात्मा उसका कल्याण करते हैं। दूसरी पंक्ति यह कहती है कि परमात्मा पक्षपाती नहीं है, यानी कोई उनकी भक्ति करे या नहीं करे, उनकी दृष्टि में वे सब समान हैं- जो भक्ति नहीं करते उनका भी वे अकल्याण नहीं करते।

जैन दर्शन में परमात्मा को कर्त्ताहर्त्ता नहीं माना गया है। वे सृष्टिकर्तृत्व-हर्तृत्व से परे हैं। संसारी प्राणी अपने कृतकर्मों का फल भोगते हैं, परमात्मा का उसमें हस्तक्षेप नहीं है, न पक्षपात है। फिर भी उनके सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वे आराधना करने वाले का कल्याण करते हैं- यह उपचार से आरोप है। जैसे डॉक्टर के निर्देशानुसार दवा का सेवन करने वाला रोगी स्वस्थ होने पर यही कहता है कि 'डाक्टर साहब ! आपने मुझे ठीक कर दिया', इस कथन में कुछ गलत नहीं है। इसी तरह व्यवहार से परमात्मा में यह आरोप किया जाता है कि उन्होंने भक्त का कल्याण कर दिया। वस्तुत: तो परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर साधक ने अपने शुभ परिणामों-शुद्ध परिणामों से वह उपलब्धि अर्जित की है। परन्तु उसकी इस उपलब्धि में क्योंकि परमात्मा निमित्त बने हैं अत: व्यवहार से ऐसा कह दिया जाता है।

समत्व या साम्य भाव का आदर्श अपनाये बिना तो परमात्मपना ही उपलब्ध नहीं होता- फिर कैसे कोई परमात्मा पक्षपाती होगा। उसके ज्ञान में प्राणीमात्र समान हैं। परमात्मा रागद्वेष से परे हैं, निस्पृह हैं, सृष्टि के प्रपंच से अब उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। वे तो शाश्वत समभाव में लीन विशुद्ध ज्ञाता, द्रष्टा मात्र हैं। मुक्त आत्मा भी यदि इसी प्रपंच में पड़ जाए तो फिर संसारी आत्मा और उसमें क्या अन्तर रह जाएगा।

साधक आत्मा को तो उनके उपदिष्ट मार्ग का आचरण कर अपना कल्याण करना है, इस कल्याण में वे निमित्त हैं अत: यह कह दिया जाता है कि वे भक्त का कल्याण करते हैं। समन्तभद्राचार्य ने श्रीवासुपूज्य जिनेन्द्र के स्तवन में कहा है-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥२॥

कृतकृत्योऽयमाराद्धः स्यादाज्ञापालनात् पुनः।
आज्ञा तु निर्मलं चित्तं कर्त्तव्यं स्फटिकोपमम्॥२१॥

ज्ञानदर्शनशीलानि पोषणीयानि सर्वदा।
रागद्वेषादयो दोषा हन्तव्याश्च क्षणे-क्षणे॥२२॥

एतावत्येव तस्याज्ञा कर्मद्रुमकुठारिका।
समस्तद्वादशांगार्थसारभूताऽतिदुर्लभा॥२३॥

अर्थ - परमात्मा कृतकृत्य हैं- कृतार्थ हैं, अतः उनकी आज्ञापालन से ही उनकी आराधना हो जाती है। (उनकी आज्ञा क्या है ?) कि अपने चित्त को स्फटिक की भाँति निर्मल करना चाहिए॥२१॥

सदा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पोषण करना चाहिए और प्रतिक्षण रागद्वेष रूपी दोषों का हनन करना चाहिए॥२२॥

समस्तद्वादशांगी के अर्थ की सारभूत, अतिदुर्लभ और कर्मरूपी वृक्ष को काटने वाली, बस, इतनी ही उनकी आज्ञा है॥२३॥

भावार्थ - परमात्मा कृतकृत्य हैं, अब उन्हें कुछ नहीं करना, वे सदा-सदा के लिए निज स्वरूप में स्थित रहकर शाश्वत सुख का उपभोग कर रहे हैं। संसार में भ्रमण करने वाले जीवों की आराधना इतनी ही है कि वे परमात्मा की आज्ञा का पालन करें और द्वादशांग की सारभूत तथा कर्मरूपी वृक्ष को काटने में समर्थ उनकी आज्ञा बस इतनी ही है कि रागद्वेष का नाश करो और सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पुष्ट करो क्योंकि यही मोक्ष का- मुक्ति का सच्चा मार्ग है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं, अलग-अलग नहीं यानी कोरे दर्शन से, कोरे ज्ञान से या कोरे चारित्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। तीनों मिल कर ही मुक्ति के उपाय हैं।

जिनाज्ञा ही स्वीकार करने योग्य है

विश्वस्य वत्सलेनापि त्रैलोक्यप्रभुणापि च।
साक्षात् विहरमाणेन श्रीवीरेण तदा किल ॥२४॥

ते एव रक्षिता दुःखभैरवाद् भवसागरात्।
इयं यैः स्वीकृता भक्तिनिर्भरैरभयादिभिः ॥२५॥

यैस्तु पापभराक्रान्तैः कालशौकरिकादिभिः।
न स्वीकृता भवाम्भोधौ ते भ्रमिष्यन्ति दुःखिताः ॥२६॥

अर्थ - विश्ववत्सल, त्रिलोकीनाथ वीर प्रभु द्वारा साक्षात् विहार करते हुए दुःखपूर्ण भवसागर से वे ही भक्तिमान अभयकुमार आदि रक्षित हुए जिन्होंने उनकी आज्ञा को स्वीकार किया और जिन्होंने उनकी आज्ञा स्वीकार नहीं की ऐसे कालशौकरिक आदि जीव पाप के भार से आक्रान्त हुए, दुखित हुए संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करेंगे॥२४-२६॥

भावार्थ - जिनाज्ञा ही स्वीकार करने योग्य है। जिन्होंने इसे स्वीकार कर अपना जीवन तदनुरूप बनाया वे इस दुःखपूर्ण भवसागर से रक्षित हुए और जिन्होंने इसे अस्वीकार किया वे अनन्तकाल तक इस दुःखपूर्ण संसार में दुःख भोगते रहेंगे। पुण्यात्मा अभयकुमार भवसागर से रक्षित हुए जबकि पापी कालशौकरिक संसार परिभ्रमण के दुःख भोग रहा है।

जिनाज्ञा ही भवभंजनी है

सर्वजन्तुहिताज्ञैवाऽऽज्ञैव मोक्षेक पद्धतिः।
चरिताऽऽज्ञैव चारित्रमाज्ञैव भवभञ्जनी ॥२७॥

अर्थ - जिनाज्ञा ही सब प्राणियों का हित करने वाली है, जिनाज्ञा ही मोक्ष का अद्वितीय मार्ग है, आचरण सम्बन्धी आज्ञा ही चारित्र है और आज्ञा ही भव का भंजन करने वाली यानी संसार दशा का नाश करने वाली है॥२७॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि जो कोई संसार सागर से पार उतरना चाहता है उसे जिनाज्ञारूप नौका का अवलम्बन लेना ही होगा क्योंकि वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिन ने उसी मार्ग पर चलने की आज्ञा दी है जिस मार्ग पर चल कर वे मुक्त हुए, यह उनकी अनुभूत, आचरित स्थिति है, इसमें किसी प्रकार की शंका की कोई सम्भावना नहीं है। 'जिनवच में शंका न धार' यह सम्यक्त्व का नि:शंकित अंग है। और जिनाज्ञा का पालन-आज्ञा सम्यक्त्व। सम्यक्त्व धर्म का मूल है- दंसण मूलो धम्मो।

जिनाज्ञा पालन-विधि

इयं तु ध्यानयोगेन भावसारस्तुतिस्तवै:।
पूजादिभि: सुचारित्रचर्यया पालिता भवेत् ॥२८॥

अर्थ - यह जिनाज्ञा ध्यानयोग से, भावपूर्ण स्तुति-स्तवनों से, पूजादिक से और श्रेष्ठ चारित्रचर्या से पालन की जाती है॥२८॥

भावार्थ - ग्रन्थकार जिनाज्ञा-पालन में मन-वचन-काय तीनों को संयुक्त करना चाहते हैं अत: कहते हैं कि मन में प्रभु का ही ध्यान, चिन्तन हो, वचन से प्रभु की भावपूर्ण स्तुति करें और काया से उनकी आज्ञानुरूप चारित्र का- अणुव्रत-महाव्रत रूप चारित्र का पालन करें। मन-वचन-काय ये योग कहलाते हैं- इनसे आस्रव होता है- "कायवाङ्मन: कर्मयोग:। स आस्रव:। शुभ: पुण्यस्य अशुभ: पापस्य।" शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का। जब हमारी मन-वचन-काय की क्रियाएँ जिनाज्ञा के परिपालन में प्रवृत्त रहेंगी तो शुभ में ही संलग्न रहेंगी जिनसे पुण्य का आस्रव होगा और मोक्षमार्ग प्रशस्त होगा।

भाव और द्रव्यआराधना

आराधितोऽस्त्वसौ भावस्तवेन व्रतचर्यया।
तस्य पूजादिना द्रव्यस्तवेन तु सरागता ॥२९॥

अर्थ - भावस्तवपूर्वक व्रतचर्या से उस परमात्मा (की आज्ञा की) आराधना की जाती है और द्रव्यस्तवपूर्वक पूजादि से भी- यह सराग भक्ति है ॥२९॥

भावार्थ - गृहस्थ और साधु दोनों परमात्मा की आराधना करते हैं- अपनी-अपनी योग्यतानुसार। साधु अपने व्रतों का पालन करते हुए भावस्तव से- भावपूजा से जिनाज्ञा की पालना करते हुए उनकी उपासना करता है जबकि गृहस्थ द्रव्य स्तव और अष्ट द्रव्यों से पूजा करके उनकी भक्ति करता है। यह सराग भक्ति है, परमात्मा के प्रति रागपूर्वक की जाने वाली भक्ति है, उपासना है।

द्रव्यस्तव भी कल्याणकारी है

चिन्तामण्यादिकल्पस्य स्वयं तस्य प्रभावतः।
कृतो द्रव्यस्तवोऽपि स्यात् कल्याणाय तदर्थिना ॥३०॥

अर्थ - कल्याण के आकांक्षी (भक्तजन) के लिए उसके द्वारा किया हुआ द्रव्य स्तव भी अपने प्रभाव से चिन्तित फल को देने वाली चिन्तामणि के समान कल्याण करने वाला ही होता है।

भावार्थ - जैसे चिन्तामणिरत्न अपने से याचना करने वाले याचक की अभिलाषा को पूर्ण कर उसके कल्याण में निमित्त बनता है उसी प्रकार कल्याण की कामना करने वाले साधक द्वारा परमात्मा के प्रति निवेदित द्रव्यस्तव भी-द्रव्य पूजा भी उसके कल्याण में निमित्त बनती है।

द्रव्यस्तव का फल

स्वर्गापवर्गदो द्रव्यस्तवोऽत्रापि सुखावहः।
हेतुश्चित्तप्रसत्तेस्तत् कर्त्तव्यो गृहिणा सदा ॥३१॥

अर्थ - द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा भी स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) को देने वाली है और इस लोक में यहाँ भी सुख प्रदान करने वाली है। अतः गृहस्थ

के द्वारा यह सदा की जानी चाहिए क्योंकि यह चित्त की निर्मलता में भी कारण है॥३१॥

भावार्थ - द्रव्यपूजा इस लोक में भी सुख देने वाली है और परलोक में भी स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्रदान करने वाली होती है। साथ ही जिस समय की जाती है उस समय भी चित्त को निर्मल, उज्ज्वल करती है अत: गृहस्थियों को, श्रावकों को यह सदैव करनी चाहिए।

विरति कर्मनिर्जरा में कारण

भवेद् विरतिरप्यस्य यथाशक्ति: पुनर्यदि।
तत: प्रक्षरित: सिंह: कर्मनिर्मथनं प्रति॥३२॥

अर्थ - द्रव्यस्तव करने वाले गृहस्थ के आचरण में फिर यदि विरति भी आ जाय तो वह भी कर्मों का क्षय करने के प्रति तत्पर सिंह सदृश हो जाता है॥३२॥

भावार्थ - जैसे हाथी को नष्ट करने के लिए सिंह उद्यमशील होता है वैसे ही विरति का पालन करने वाला गृहस्थ कर्मों का नाश करने में तत्पर हो जाता है। विरति रूप तप के अभाव में कर्मनिर्जरा नहीं होती- **तपसा निर्जरा च**। अत: साधक को यथाशक्ति विरति का पालन भी करना चाहिए।

शुभभाव भी मोक्ष के हेतु हैं

श्रावको बहुकर्मापि पूजाद्यै: शुभभावत:।
दलयित्वाऽखिलं कर्म शिवमाप्नोति सत्वरं॥३३॥

अर्थ - बहुत कर्मों से ग्रस्त श्रावक भी शुभ भाव से की गई पूजादिक से सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है॥३३॥

भावार्थ - जीव के भाव दो तरह के होते हैं- अशुद्ध और शुद्ध। अशुद्ध के पुन: दो भेद हैं अशुभ और शुभ। शुद्ध भाव साक्षात्मोक्ष के कारण हैं जबकि शुभ भाव परम्परा से मोक्ष के कारण हैं, अत:

अशुभ भाव को छोड़कर सदा धरो शुभ भाव।
शुद्ध भाव आदर्श हों यह आगम का भाव॥

परमात्मा की आज्ञा की आराधना सुख प्राप्ति में कारण है और विराधना दुःखदायक है

येनाज्ञा यावदाराद्धा स तावल्लभते सुखम्।
यावद् विराधिता येन तावद् दुःखं लभेत सः॥३४॥

अर्थ - जो कोई परमात्मा की आज्ञा की जितनी आराधना करता है वह उतना ही सुख प्राप्त करता है और जो कोई उसकी जितनी विराधना करता है वह उतना ही दुःख प्राप्त करता है॥३४॥

भावार्थ - जैसे सही दिशा में चलने वाले की मंजिल नजदीक आती जाती है और विपरीत दिशा में चलने वाले की मंजिल दूर होती जाती है, वैसे ही परमात्मा की आज्ञा का यथाशक्ति पालन करने वाला जीव मोक्ष रूपी मंजिल के निकट पहुँचता जाता है और उनकी आज्ञा की विराधना करने वाला जीव संसार में परिभ्रमण कर चारों गतियों के दुःख भोगता रहता है।

सत्यमार्ग पर चलने वाला सुखी होता है और मिथ्या मार्ग का अनुसरण करने वाला दुःख ही पाता है।

आत्मज्ञान से मुक्ति

सदातत्पालने लीनैः परमात्मात्मनात्मनि।
सम्यक् स ज्ञायते ज्ञातो मोक्षं च कुरुते प्रभुः॥३५॥

अर्थ - परमात्मा की आज्ञा का पालन करने में सदा लीन रहने वालों के द्वारा अपनी आत्मा में वह प्रभु परमात्मा आत्मा द्वारा ही सम्यक् रूप से जान लिया जाता है और तब इस परमात्मज्ञान (होने) से मोक्ष उपलब्ध होता है॥३५॥

भावार्थ - जिनाज्ञा का परिपालन करने वाला भव्यात्मा अपनी आत्मा

में ही आत्मा द्वारा परमात्मपने को सम्यक् प्रकार से ज्ञात कर, अनुभूत कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

जैन दर्शन यह नहीं कहता कि कोई भगवान जीव को मोक्ष पहुँचा देगा। उसके अनुसार जिनाज्ञा का अनुसरण कर उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालने वाला साधक आत्मा एक दिन स्वयं परमात्मा बन सकता है, मुक्तिरमा का वरण कर सकता है।

सभी परमात्मा सदृश हैं

बुद्धो वा यदि वा विष्णुर्यद्वा ब्रह्माथवेश्वरः।
उच्यतां स जिनेन्द्रो वा नार्थभेदस्तथापि हि॥३६॥

अर्थ - परमात्मा को चाहे बुद्ध कहो, चाहे विष्णु, चाहे ब्रह्मा, चाहे ईश्वर, चाहे जिनेन्द्र- ये सब नामभेद हैं, इनमें अर्थभेद नहीं है॥३६॥

भावार्थ - कोई आत्मा जब परमात्मपने को उपलब्ध होती है या मुक्त होती है तो वह अन्य परमात्माओं या मुक्त हुए जीवों के सदृश ही होती है, गुणों की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं होता- नाम की अपेक्षा भले ही भेद हो- ''बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो''।

नामभेद, गुणभेद नहीं

ममैव देवो देवः स्यात् तव नैवेति केवलम्।
मत्सरस्फूर्जितं सर्वमज्ञानानां विजृम्भितम्॥३७॥

अर्थ - मेरा देव ही देव है, परमात्मा है, तुम्हारा देव देव नहीं है, ऐसा कथन केवल ईर्ष्या से परिपूर्ण अज्ञानियों का ही है॥३७॥

भावार्थ - ज्ञानीजन गुणों की अपेक्षा परमात्मा में भेद नहीं करते और न 'मेरे तेरे' का विवाद करते हैं। सब झगड़े अज्ञानियों के अज्ञान की ही उपज हैं। नामभेद होते हुए भी 'परमात्मा' के परमात्मपने में कोई अन्तर नहीं है। सभी अनन्तचतुष्टय के धनी होते हैं और शाश्वत सुख का उपभोग करते हैं।

परमात्मा के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं

यथावस्थितविज्ञाततत्स्वरूपास्तु न क्वचित्।
विवदन्ते महात्मानस्तत्त्वविश्रान्तदृष्टय: ॥३८॥

अर्थ - वास्तविक-सच्ची रीति से परमात्मा के स्वरूप को जानने वाले तात्त्विक दृष्टिवाले महात्मा तो इस विषय में कोई विवाद नहीं करते॥३८॥

भावार्थ - परमात्मा के वास्तविक स्वरूप-वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता को जानने वाले तत्त्वदृष्टि सम्पन्न पुरुष तो परमात्मा के स्वरूप के बारे में कोई विवाद नहीं करते, सब विवाद अज्ञानियों या मिथ्याज्ञानियों के मस्तिष्क की उपज हैं क्योंकि स्वयं उनको परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का समीचीन ज्ञान नहीं है।

परमात्मा वीतराग है

स्वरूपं वीतरागत्वं पुनस्तस्य न रागिता।
रागो यद्यत्र तत्रान्ये दोषा द्वेषादयो ध्रुवम्॥३९॥

अर्थ - परमात्मा का स्वरूप वीतरागपना है, वीतराग होने के बाद पुन: राग का उद्भव उनकी आत्मा में नहीं होता। यदि यहाँ भी राग हो तो अन्य द्वेषादि दोष निश्चित रूप से उत्पन्न हो जायेंगे॥३९॥

भावार्थ - परमात्मा का वास्तविक स्वरूप वीतरागता है। 'राग' को नष्ट किये बिना कोई वीतराग नहीं होता, राग के अभाव में द्वेषादि दोष भी नहीं रहते। यदि परमात्मा को भी रागी माना जाए तो उसमें स्वत: ही द्वेषादि दोष उत्पन्न हो जायेंगे और राग-द्वेष वाले परमात्मा में और सामान्य जीव में फिर कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। राग के एक बार नष्ट हो जाने पर फिर उसकी पुनरुत्पत्ति का कारण नहीं रहता। अत: परमात्मा का सच्चा स्वरूप वीतरागता ही है। वीतराग देव ही सर्वज्ञ होते हैं और वे ही हितोपदेशी। रागीद्वेषी देव हमारे आराध्य नहीं हो सकते-

जिसने रागद्वेषकामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध वीर जिन हरि ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥

रागी देव नहीं हो सकता

तैर्दोषैर्दूषितो देवः कथं भवितुमर्हति।
इत्थं माध्यस्थमास्थाय तव बुद्ध्याऽवधार्यताम्॥४०॥

अर्थ - (हे भव्य !) तू अपनी बुद्धि द्वारा मध्यस्थता धारण कर इस पर विचार कर कि उन रागद्वेषादि दोषों से दूषित कोई जीव कैसे देव हो सकता है ?॥४०॥

भावार्थ - ग्रन्थकार भव्य जीवों को तटस्थतापूर्वक विचार करने का आग्रह कर रहे हैं कि स्वयं अपनी पक्षपात रहित बुद्धि से वे विचार करेंगे तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कोई 'सदोष' कैसे देवत्व धारण कर सकता है। राग और द्वेष तो कर्म के बीज हैं- इन्हीं से कर्मों का बन्ध होता है। जो स्वयं कर्मों से बद्ध है वह कैसे देव हो सकता है ! अर्थात् नहीं हो सकता।

रागीद्वेषी देव हितकारी नहीं

यद्वा रागादिभिर्दोषैः सर्वसंक्लेशकारकैः।
दूषितेन शुभेनापि देवेनैव हितेन किम्॥४१॥

अर्थ - अथवा, सर्वप्रकार के संक्लेशों को उत्पन्न करने वाले, रागादिक दोषों से दूषित रहने वाले देव कदाचित् शुभ या हितकारी भी नहीं हों तो उससे क्या (प्रयोजन)?॥४१॥

भावार्थ - 'रागी द्वेषी देव' ऐसी संज्ञा ही नहीं बनती। देव का लक्षण तो वीतरागता ही है- राग और द्वेष तो दूषण हैं- देव भी यदि दूषणों से दूषित होंगे तो उनमें और सामान्य जीव में क्या अन्तर रह जाएगा- वे भी

संसारी प्राणियों की तरह कर्मों के बन्धन से ग्रस्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे। उनसे जीवों के हित की कामना ही निरर्थक है। ऐसे किसी देव की आराधना करने से भी राग और द्वेष ही पुष्ट होंगे जिनसे जीव का ही अहित होगा।

वीतराग के ध्यान से ही वीतरागता आती है

वीतरागं यतो ध्यायन् वीतरागो भवेद् भवी।
ईलिका भ्रमरीमीता, ध्यायन्ती भ्रमरीं यथा ॥४२॥

अर्थ - संसारी प्राणी वीतराग (देव) का ध्यान करने से ही वीतराग हो सकता है जैसे भ्रमरी का ध्यान करने वाली ईलिका भ्रमरी हो जाती है॥४२॥

भावार्थ - जैसा हम विचार करते हैं वैसे ही हो जाते हैं। यदि किसी रागीद्वेषी के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे, उसका ध्यान करेंगे तो निश्चय ही हम भी राग-द्वेषादि दूषणों को अपने भीतर पनपा लेंगे। ऐसा करके अपना संसार-परिभ्रमण ही बढ़ायेंगे पर यदि हमें अपना संसार-परिभ्रमण समाप्त करना है तो हमें उनका ही ध्यान करना चाहिए जो वीतराग परिणामों के कारण अपना संसार समाप्त कर चुके हैं। उन वीतराग का ध्यान करने से ही हममें वीतरागता का विकास होगा अन्यथा नहीं। वीतराग का ध्यान करने वाला ही एक दिन पूर्ण वीतराग बनेगा- किसी रागी-द्वेषी का ध्यान करने वाला नहीं।

रागी का ध्यान रागाधीन बनाता है

रागादिदूषितं ध्यायन् रागादिविवशो भवेत्।
कामुकः कामिनीं ध्यायन् यथा कामैकविह्वलः ॥४३॥

अर्थ - रागादि से दूषित किसी का ध्यान करने से तो ध्याता स्वयं रागादि के वशीभूत हो जाएगा जैसे कामिनी (स्त्री) का ध्यान करने वाला कोई कामी पुरुष काम से विह्वल हो जाता है॥४३॥

भावार्थ - अंग्रेजी में कहावत है- तुम जैसा सोचते हो वैसा हो जाते हो। अत: साधक को अपने विवेक से यह निर्णय कर लेना चाहिए कि यदि उसे वीतरागता अर्जित करनी है तो वह 'वीतराग' के ध्यान से ही प्राप्त हो सकती है, किसी रागीद्वेषी के ध्यान से नहीं। रागद्वेष हेय हैं, वीतरागता उपादेय है। रागद्वेष का ध्यान ध्याता को रागाधीन बनाएगा जबकि वीतराग का ध्यान उसे वीतराग बनाएगा।

रागादि दोष संसारभ्रमण के कारण हैं

रागादयस्तु पाप्मानो भवभ्रमणकारणम्।
न विवादोऽत्र कोऽप्यस्ति सर्वथा सर्वसम्मते: ॥४४॥

अर्थ - रागादि दोष-गुनाह तो भ्रवभ्रमण के कारण हैं, सबकी इस विषय में यही सम्मति होने के कारण इस बात में तो किसी प्रकार का कोई विवाद है ही नहीं॥४४॥

भावार्थ - सभी सयानों का एक ही मत है कि रागादि दोष संसार में भटकाते हैं अत: ये सर्वथा हेय हैं, त्याज्य हैं, किसी भी प्रकार से अपनाने योग्य नहीं।

वीतरागता से मुक्ति मिलती है

वीतरागमतो ध्यायन् वीतरागो विमुच्यते।
रागादिमोहितं ध्यायन् सरागो बध्यते स्थितिम्॥४५॥

अर्थ - वीतराग का ध्यान करने वाला जीव एक दिन वीतराग होकर संसार से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है जबकि रागादि से मोहित देव का ध्यान करने वाला सरागी होकर अपनी संसार की स्थिति को और बढ़ा लेता है॥४५॥

भावार्थ - राग से संसार-वल्लरी बढ़ती है जबकि वीतरागता से वह सूखती है, नष्ट होती है। वीतरागता ही संसारमुक्ति का आद्य कारण है। अत: मुक्ति की चाह करने वाले साधक को वीतराग देव का ही आलम्बन लेकर उनका ध्यान करना चाहिए किसी रागीद्वेषी देव का नहीं।

य एव वीतरागः स देवो निश्चीयतां ततः।
भवीनां भवदम्भोलिः स्वतुल्यपदवी प्रदः ॥४६॥

अर्थ - अतः यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो वीतराग है, वही देव है, परमात्मा है। और वही संसारी जीवों के संसार रूपी पर्वत का नाश करने के लिए वज्र समान होकर उन्हें स्व तुल्य-अपने जैसी पदवी अर्थात् वीतराग पद प्रदान करने वाला है॥४६॥

भावार्थ - वीतरागता देवत्व की पहली आवश्यकता है। इसके बिना देवपना नहीं हो सकता। रागीद्वेषी देव उपासक को संसार समुद्र में ही डुबोएगा जबकि वीतराग देव साधक को अपने समान वीतराग बनने में निमित्त बनेगा।

वीतराग देव ही वास्तव में सच्चे देव हैं।

॥इति योगसारे यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक प्रथमः प्रस्तावः॥

इस प्रकार योगसार ग्रन्थ में सच्चे देव के स्वरूप का उपदेश करने वाला प्रथम प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

द्वितीयः प्रस्तावः तत्त्वसारधर्मोपदेशक

दृष्टिराग दुःख का कारण है

सर्वेऽपि साम्प्रतं लोकाः, प्रायस्तत्त्वपराङ्मुखाः।
क्लिश्यन्ते स्वाग्रहग्रस्ता, दृष्टिरागेण मोहिताः ॥१॥

अर्थ - आजकल प्रायः सभी जन तत्त्वज्ञान से उदासीन, दृष्टिराग से मुग्ध और स्वाग्रह से ग्रस्त हुए क्लेश पाते रहते हैं॥१॥

भावार्थ : आज प्रायः लोग कष्टमय जीवन जी रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उन्हें वस्तुस्वरूप का और जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का समीचीन ज्ञान नहीं है, इस तत्त्वज्ञान के प्रति वे उदासीन हैं, उनकी दृष्टि वस्तुपरक नहीं व्यक्तिपरक है। इसीलिए वे दृष्टिराग-अपने अपने मत/मान्यता की अन्ध श्रद्धा से मुग्ध बने हुए हैं; कदाग्रहों, दुराग्रहों से ग्रस्त हैं- यही उनके क्लेश का मुख्य कारण है। आँखों पर जिस रंग का चश्मा चढ़ा होता है, पदार्थ वैसे ही दिखाई देने लगते हैं पर वास्तव में सब पदार्थ वैसे नहीं होते। इसी प्रकार लोग अपनी संकीर्ण मान्यताओं, विचारधाराओं, पंथ, सम्प्रदाय के पक्षपातों से जब दुनिया देखते हैं तो उन्हें कष्ट होता है क्योंकि वस्तु का, तत्त्व का स्वरूप वैसा नहीं है। वस्तु स्वरूप या तत्त्व के स्वरूप के अनुसार अपनी श्रद्धा बनाई जावे तो सुख मिल सकता है, यह सम्भव भी है परन्तु कोई अपनी मान्यतानुसार, पदार्थ को परिवर्तित करना चाहे तो वह सम्भव नहीं है। ऐसी दृष्टि मोहग्रस्त दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु का स्वरूप या तत्त्व का स्वरूप तो एक है। मूढ़दृष्टि उसे अपने-अपने अनुसार चलाना चाहते हैं जो अशक्य अनुष्ठान है। इसी कारण संघर्ष और क्लेश जन्म लेते हैं। यदि व्यक्ति अपनी मान्यता वस्तु के सम्यक् स्वरूप के अनुसार बनाकर तत्त्वों का सही परिचय कर ले तो उसके क्लेश दूर हो सकते हैं। कवि ने कहा है-

वस्तुस्वरूप विचार खुशी से सब दुःख संकट सहा करें।

दृष्टिराग संसारवर्धक है

दृष्टिरागो महामोहो, दृष्टिरागो महाभवः।
दृष्टिरागो महामारो, दृष्टिरागो महाज्वरः॥२॥

अर्थ - दृष्टिराग (अपने-अपने संकीर्ण दृष्टिकोण की अन्धश्रद्धा) महामोह है, दृष्टिराग संसार का मुख्य कारण है, दृष्टिराग ही महाविष है और दृष्टिराग ही महाज्वर है॥२॥

भावार्थ - मोक्षमार्ग में समीचीन दृष्टि, निष्पक्ष दृष्टि, तटस्थ दृष्टि, तत्त्वानुसारी दृष्टि ही कार्यकारी होती है। मतान्धता, पक्षपात, संकीर्णता, दुराग्रह, कदाग्रह और स्वच्छन्द दृष्टि संसार में परिभ्रमण कराती है। इसलिए ग्रन्थकार ने इसे महामोह, महाभव, महामार (विष) और महाज्वर की संज्ञा दी है। ये सारे उपमान संसार बढ़ाने वाले हैं और संसारी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करने वाले हैं। अतः मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए प्राथमिक आवश्यकता यह है कि साधक अपनी दृष्टि में सुधार करे, उसे मिथ्या से सम्यक् बनावे।

मात्सर्यभाव पतन का कारण है

पतितव्यं जनैः सर्वैः प्रायः कालानुभावतः।
पापो मत्सरहेतुस्तद् निर्मितोऽसौ सतामपि॥३॥

अर्थ - काल के प्रभाव से प्रायः सभी जीवों का (अच्छे और बुरे दोनों का) पतन होना है। शायद इसीलिए सज्जन पुरुषों के मन में मात्सर्य भाव उत्पन्न करने वाला यह दृष्टिराग रूप पाप निर्मित हुआ है॥३॥

भावार्थ - पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता इस भरत क्षेत्र से। ग्रन्थकार ने इसका हेतु कल्पित किया है कि सबका पतन-संसार-परिभ्रमण-अवश्यम्भावी है क्योंकि दृष्टिराग रूप महामोह ने सब जीवों में मात्सर्यभाव को जन्म दिया है। इस संकीर्ण दृष्टि के कारण ही जीव का उत्थान, विकास नहीं हो रहा है और वह संसार गर्त में गिरता जा रहा है।

मोहोपहतचित्तास्ते मैत्र्यादिभिरसंस्कृताः।
स्वयं नष्टा जनं मुग्धं नाशयन्ति च धिग् हहा॥४॥

अर्थ - मोह से आहत चित्त वालों को धिक्कार है, वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं से संस्कृत नहीं हैं, वंचित हैं, वे स्वयं भी नष्ट होते हैं और दूसरे भोले जीवों का भी नाश करते हैं॥४॥

भावार्थ - ग्रन्थकार ने पूर्व श्लोक में दृष्टिराग से उत्पन्न हुए मात्सर्य भाव का उल्लेख किया था कि परस्पर मनुष्य ईर्ष्या करने वाले हैं, यहाँ वे कह रहे हैं कि मोह से आहत जीव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं से वंचित रहते हैं; समीचीन दृष्टि-सम्यक् दृष्टि होने पर ही जीवात्मा में इन भावनाओं का उदय और विकास होता है। वह विचार करता है-

मैत्रीभाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे,
दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य भाव रखूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे॥

गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे॥

दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा यही भावना भाता है-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव!

वस्तुतः संसार में जीवनयापन का यही आदर्श व्यवहार अंगीकार करना चाहिए। जो मूढ़ यह नहीं समझते, वे स्वयं भी नष्ट होते हैं और दूसरों का भी नाश करते हैं।

मैत्री आदि भावनाओं का स्वरूप

परे हितमतिर्मैत्री, मुदिता गुणमोदनम्।
उपेक्षा दोषमाध्यस्थ्यं, करुणा दुःखमोक्षधीः ॥५॥

अर्थ - अन्य जीवों का हित करने की बुद्धि मैत्री है, गुणियों के गुणों की अनुमोदना करना मुदिता या प्रमोद भाव है, दूसरों के दोषों की ओर मध्यस्थता का भाव उपेक्षा है और दूसरे जीवों को दुःख से छुड़ाने की बुद्धि करुणा भाव है॥५॥

भावार्थ - जीव मात्र को अपने ही समान समझकर उनका हित करने की भावना रखना मैत्री भाव है। अपने से अधिक गुणियों को देखकर हृदय में प्रमोद भाव का उत्पन्न होना मुदिता है। दुःखी जीवों को देखकर हृदय में उनके दुःख को दूर करने का भाव उत्पन्न होना करुणा है और अपने से विपरीत वृत्ति रखने वालों के प्रति मध्यस्थता, तटस्थता-न राग न द्वेष की स्थिति बनाए रखना उपेक्षा भावना है।

सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में ये चारों भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं, दृष्टिराग या मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं।

सम्यग्दृष्टि का संसारी जीवों के प्रति व्यवहार

मैत्री निखिलसत्त्वेषु, प्रमोदो गुणशालिषु।
माध्यस्थ्यमविनेयेषु, करुणा सर्वदेहिषु ॥६॥

अर्थ - सभी जीवों के प्रति मैत्री, गुणशालियों के प्रति प्रमोद, अविनेय यानी उद्दण्ड वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ्य भाव और सभी देहधारियों के प्रति करुणा भाव- (दृष्टिराग से मुक्त हुए जीव का संसारी जीवों के प्रति ऐसा ही व्यवहार होता है।)॥६॥

भावार्थ - संसारी जीवों के प्रति सम्यग्दृष्टि जीव और मिथ्यादृष्टि जीव की दृष्टि भिन्न होती है। दृष्टिराग में बँधा जीव अपने को ही सर्वोपरि मानता है, दूसरों के प्रति मात्सर्य भाव धारण करता है जबकि सम्यग्दृष्टि

जीव का व्यवहार समता से परिपूर्ण होता है। वह अपने से प्रतिकूल वृत्ति वालों के प्रति भी उपेक्षा का व्यवहार करता है, जीव मात्र के प्रति करुणा और मैत्री का व्यवहार करता है और गुणीजनों के प्रति उसके हृदय में प्रमोद भाव उत्पन्न होता है। वह किसी से मात्सर्य नहीं रखता। इस प्रकार वह स्वयं भी सुखी रहता है और उसके निमित्त से दूसरा भी कोई दुःखी नहीं होता।

मैत्र्यादि भावनाएँ धर्म की मूल हैं

धर्मकल्पद्रुमस्यैता मूलं मैत्र्यादिभावनाः।
यैर्न ज्ञाता न चाभ्यस्ता स तेषामतिदुर्लभः ॥७॥

अर्थ - मैत्री आदि चार भावनाएँ धर्म रूपी कल्पवृक्ष की मूल हैं, जो इन चार भावनाओं को नहीं जानता और जिसने इनका अभ्यास नहीं किया उसे धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है॥७॥

भावार्थ - जैसे मूल के बिना वृक्ष की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैत्री आदि चार भावनाएँ धर्म रूपी वृक्ष की मूल हैं, इनके बिना 'धर्म' का उद्भव ही नहीं हो सकता। जो इन भावनाओं को नहीं जानता या जान कर भी इनका अभ्यास नहीं करता उसे धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

मोह की विचित्रता

अहो विचित्रं मोहान्धं, तदन्धैरिह यज्जनैः।
दोषा असन्तो वीक्ष्यन्ते परे सन्तोऽपि नात्मनि ॥८॥

अर्थ - मोह रूपी अन्धकार इतना विचित्र है कि इसके द्वारा अन्धे किये गए जन अपने में विद्यमान दोषों को भी नहीं देखते जबकि दूसरों में अविद्यमान दोष भी इनको दिखाई दे जाते हैं॥८॥

भावार्थ - मोहान्ध जीवों को मात्सर्यभाव इतना अधिक ग्रस लेता है कि इसके कारण उन्हें दूसरों में दोष न होते हुए भी दोष-ही-दोष दिखाई

देते हैं जबकि अपने में विद्यमान दोष भी उनकी दृष्टि से ओझल रहते हैं, यही तो मोहान्धकार की विचित्रता है। मोहमुग्धजीव अपने आगे दूसरे को तुच्छ और हीन समझता है जबकि अपने आप को सर्वगुणसम्पन्न।

मत्सरियों की मान्यता

मदीयं दर्शनं मुख्यं पाखण्डान्यपराणि तु।
मदीयः आगमः सारः परकीयास्त्वसारकाः ॥९॥

तात्त्विका वयमेवान्ये, भ्रान्ताः सर्वेऽप्यतात्त्विकाः।
इति मत्सरिणो दूरोत्सारितास्तत्त्वसारतः ॥१०॥

अर्थ - "मेरा दर्शन ही मुख्य-प्रधान है, अन्य सब तो पाखण्ड हैं, मेरा शास्त्र ही श्रेष्ठ है, अन्य के शास्त्र निस्सार हैं, हम ही सच्चे तत्त्वज्ञानी हैं, अन्य सभी अतात्त्विक और भ्रान्त हैं।" ऐसे मानने वाले मत्सरी श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान से बहुत दूर हैं॥९-१०॥

भावार्थ - दूसरों से ईर्ष्या रखने वाले मत्सरी अन्धश्रद्धा के वशीभूत हो अपने आपको, अपने दर्शन-मत को और अपने शास्त्र को ही श्रेष्ठ मानते हैं। वे अन्य मत वालों को भ्रान्त, उनके दर्शन को पाखण्ड और उनके शास्त्र को निस्सार घोषित करते हैं।

ग्रन्थकार के अनुसार ऐसे लोग समीचीन तत्त्वज्ञान से कोसों दूर हैं। उनका यह दुराग्रह, कदाग्रह, सर्वथा अविवेकपूर्ण है क्योंकि उनकी एकांगी दृष्टि वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक देखने में सर्वथा असमर्थ है। मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक की दृष्टि ऐसी विकृत नहीं हो सकती। उसका तो लक्ष्य रहता है कि 'जो खरा सो मेरा'। परन्तु मत्सरी अन्ध श्रद्धालु 'जो मेरा सो खरा' का राग आलापता है और ऐसा करके वह समीचीन मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसी विकृत, एकांगी दृष्टि हेय है।

मत्सरी परस्पर नाश को प्राप्त होते हैं

यथाऽऽहतानि भाण्डानि, विनश्यन्ति परस्परम्।
तथा मत्सरिणोऽन्योन्यं हि दोषग्रहणाद् हताः ॥११॥

अर्थ - जिस प्रकार मिट्टी के पात्र परस्पर टकराने से नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मत्सरी जीव एक-दूसरे के दोषों को ग्रहण करने में ही नष्ट हो जाते हैं॥११॥

भावार्थ - दुराग्रही जीवों को अपने-अपने मत का कदाग्रह होने से वे परस्पर संघर्ष करते हैं और आपस में ही लड़-भिड़ कर उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे मिट्टी के पात्र परस्पर टकरा कर टूट जाते हैं, मिट्टी में मिल जाते हैं।

ग्रन्थकर्त्ता के अनुसार दुराग्रह, पक्षपात, कदाग्रह संघर्ष का कारण है। इससे स्वयं की शान्ति भी भंग होती है और दूसरे की भी। जैन दर्शन एकान्तवादी विचारधारा का पक्षधर नहीं है, वह अनेकान्त का प्रतिपादन करता है और 'ही' की जगह 'भी' का समर्थन करता है। प्रत्येक कथन कोई-न-कोई अपेक्षा लिये होता है और उस अपेक्षा से वह सम्यक् होता है। वाणी में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तुस्वरूप को एक बार में ठीक-ठीक व्यक्त कर सके अत: कथन में वक्ता की अपेक्षा ही भाव की अभिव्यक्ति होती है।

ईर्ष्यालु व अन्ध श्रद्धालु मात्र अपनी मान्यता को ही सही मानते हैं, दूसरों को गलत ठहराते हैं अत: संघर्ष स्वाभाविक है।

दूसरी बात जो ग्रन्थकार कहना चाहते हैं वह यह कि हमें दूसरों के गुणग्रहण करने चाहिए न कि दोष। गुणग्रहण में विरोध की कोई सम्भावना नहीं होती जबकि दोषग्रहण में परस्पर टकराहट होती है, वैमनस्य उत्पन्न होता है।

परदोषग्रहण संसार का कारण है

परं पतन्तं पश्यन्ति, न तु स्वं मोहमोहिता:।
कुर्वन्त: परदोषाणां, ग्रहणं भवकारणम्॥१२॥

अर्थ - मोह से मुग्ध हुए जीव दूसरे को तो गिरते हुए देखते हैं पर

अपने आप को नहीं। दूसरों के दोषों को ग्रहण करना संसार (वृद्धि) का ही कारण है॥१२॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि मोहग्रस्त जीव को दूसरों का अध:पतन तो दिखाई देता है, पर वे अपने अध:पतन को नहीं देखते। उनकी दृष्टि दोषग्राहिणी ही होती है। उन्हें दूसरों के गुण दिखाई नहीं देते। वे अपने को गुणसमृद्ध और दूसरे को गुणहीन समझते हैं और छिद्रान्वेषी होते हैं, दूसरों के दोषों का ग्रहण करने से उन्हीं के संसार परिभ्रमण की वृद्धि होती है। गुणी बनने के लिए तो हमें सदैव पर के गुणों का ही अवलोकन करना चाहिए और उन्हीं का संचय करना चाहिए। पर के दोष देखने से तो उन्हीं दोषों का ग्रहण होता है और ऐसी परदोषग्रहण प्रवृत्ति जीव को भव-भव में संसार में ही भटकाती है, इससे संसार ही बढ़ता है।

आत्मालोचन करने वाला शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है

यथा परस्य पश्यन्ति, दोषान् यद्यात्मनस्तथा।
सैवाजरामरत्वाय, रससिद्धिस्तदा नृणाम्॥१३॥

अर्थ - जिस तरह मनुष्य दूसरों के दोषों को देखता है, उसी तरह यदि अपने दोषों को भी देख ले तो उसकी यह प्रवृत्ति अजर-अमर पने को पाने के लिए रससिद्धि के समान सिद्ध होगी॥१३॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि जैसे रससिद्धि पाकर साधक अजर-अमर पद पा लेता है उसी प्रकार आत्मालोचन करने वाला, अपने दोषों का अवलोकन करने वाला साधक शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। दोषों या अवगुणों पर दृष्टि रखने वाला साधक उनसे शीघ्र विमुक्त हो जाता है क्योंकि जिस प्रकार कोई किसी को चोरी करते देख लेता है तो फिर चोर, चोरी करने का साहस नहीं करता, उसी प्रकार हम यदि अपने दोषों को देख लें तो फिर उनसे छुटकारा मिलने में देर नहीं लगती। दोषों से मुक्ति हमें मोक्ष मंजिल के निकट पहुँचाती है।

रागद्वेष के सद्भाव में समत्व की प्राप्ति नहीं होती

रागद्वेषविनाभूतं, साम्यं तत्त्वं यदुच्यते।
स्वशंसिनां क्व तत् तेषां परदूषणदायिनाम्? ॥१४॥

अर्थ - राग और द्वेष का अभाव होने पर साम्य भाव उत्पन्न होता है, वही तत्त्व कहा जाता है। पर में दूषण लगाने वालों और आत्मप्रशंसा करने वालों को उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती॥१४॥

भावार्थ - मुक्ति या मोक्ष का अधिकारी वही होता है जिसने राग द्वेष को नष्टकर साम्यभाव की प्राप्ति की हो। साम्य या समता भाव ही संसार से छूटने की पहली शर्त है- यही वास्तविक तत्त्व है।

दूसरों के दोष खोजने वाले द्वेषियों और आत्मश्लाघा में अनुरक्त रहने वाले रागियों को 'समत्व' की उपलब्धि नहीं हो सकती। राग और द्वेष तो संसार के मूल कारण हैं-

रागो य दोसो विय कम्ममूलं।

इनके सद्भाव में संसार-सागर का किनारा नहीं पाया जा सकता। साम्य भाव की प्राप्ति हेतु इनका-राग-द्वेष का विसर्जन आवश्यक है।

समत्व का स्वरूप

मानेऽपमाने निन्दायां स्तुतौ वा लेष्टुकाञ्चने।
जीविते मरणे लाभालाभे रंके महर्द्धिके॥१५॥

शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे, हृषीकार्थे शुभाशुभे।
सर्वत्रापि यदेकत्वं तत्त्वं, तद्भेद्यतां परम्॥१६॥

अर्थ - सम्मान में और अपमान में, निन्दा में और स्तुति यानी प्रशंसा में, मिट्टी के ढेले में और स्वर्ण में, जीवन में और मृत्यु में, लाभ में और अलाभ-नुकसान में, रंक में और महर्द्धिक में, शत्रु में और मित्र में, सुख

में और दुःख में, इन्द्रियों के शुभ विषयों में और अशुभ विषयों में, ऐसी सभी परिस्थितियों में चित्त की एकता यानी समानता रखनी अर्थात् अनुकूल में राग नहीं करना और प्रतिकूल में द्वेष नहीं करना अपितु समता भाव बनाए रखना यही तत्त्व है, इससे विपरीत अतत्त्व है॥१५-१६॥

भावार्थ -सामान्य प्राणी अनुकूलता में राग करता है और प्रतिकूलता से द्वेष करता है, इससे उसे कर्मों का बन्ध होता है और उसकी संसारस्थिति बढ़ती है परन्तु मोक्ष की साधना करने वाला साधक सभी परिस्थितियों में चित्त की एकरूपता यानी समता धारण करता है। यह समता ही उसे सिद्धत्व प्राप्त कराती है। समत्व ही मुक्तिमार्ग की प्राथमिक आवश्यकता है। इस तत्त्व को उपलब्ध किये बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। साधक का लक्षण है-

अरि मित्र महल मसान कंचन काच निन्दन थुतिकरण।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण॥

अष्टाङ्गयोग का लक्ष्य : चित्त का समत्व

अष्टाङ्गस्यापि योगस्य सारभूतमिदं खलु।
यतो यमादिव्यासोऽस्मिन् सर्वोऽप्यस्यैव हेतवे॥१७॥

अर्थ - अष्टाङ्गयोग का भी निश्चय से यही सार है, कारण कि यम-नियमादि रूप योग का विस्तार तो केवल इसी हेतु (चित्त के समभाव) के लिए है॥१७॥

भावार्थ - सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य समत्व भाव को प्राप्त करना है। यहाँ ग्रन्थकार पातंजल अष्टाङ्गयोग का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि योगसाधना का लक्ष्य भी चित्त की समाधि-साम्यावस्था प्राप्त करना ही है। योग के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। **यम** - इन्द्रियों को वश में रखना, निग्रह। चित्त को धर्म में स्थिर रखने वाले कर्मों का साधन। **नियम** - स्नान, मौन,

उपवास, यज्ञ, वेद-पाठ, इन्द्रियनिग्रह, शौच, अक्रोध और अप्रमाद। (स्मृति) **आसन** - योग के नियमानुसार शरीर को मोड़ना-विविध आसन। **प्राणायाम** - श्वास और प्रश्वास की वायु को नियंत्रित और नियमित रूप से खींचने तथा बाहर निकालने की प्रक्रिया। **प्रत्याहार** - इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से पीछे खींचना। **धारणा** - मन या ध्यान में रखने की वृत्ति। **ध्यान** - किसी कार्य में या बात में मन के लीन होने की क्रिया-मानस प्रत्यक्ष या मानसिक अनुभूति। **समाधि** - योगसाधना का चरम फल जिससे मनुष्य सब क्लेशों से मुक्त होकर अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करता है। योगसाधना का लक्ष्य चित्त की एकाग्रता या समत्व भाव ही है। चित्त की चंचलता रागद्वेष उत्पन्न करती है और रागद्वेष की परिस्थितियाँ चित्त क़ो विचलित-चलायमान कर देती हैं अत: समता या साम्यभाव नितान्त आवश्यक है।

योगाभ्यास का प्रयोजन-साम्यभाव

क्रियते दधिसाराय दधिमन्थो यथा किल।
तथैव साम्यसाराय योगाभ्यासो यमादिक: ॥१८॥

अर्थ - जैसे दही का मन्थन दधिसार-मक्खन प्राप्त करने के लिए किया जाता है वैसे ही यमादिक योगाभ्यास समत्व-साम्य भाव को प्राप्त करने के लिए किया जाता है॥१८॥

भावार्थ - सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य है- समभाव की सिद्धि। समत्व दशा के बिना संसार की स्थिति क्षीण नहीं होती। योगसाधना का लक्ष्य भी यही है। जैसे नवनीत पाने के लिए ही दधिमन्थन का समारम्भ किया जाता है उसी प्रकार यम-नियम आदि सभी यौगिक क्रियाओं का प्रयोजन है- सारभूत साम्यभाव की उपलब्धि।

साम्यभाव से केवलज्ञान

अद्य कल्येऽपि कैवल्यं साम्येनानेन नान्यथा।
प्रमाद: क्षणमप्यत्र तत: कर्तुं न साम्प्रतम् ॥१९॥

अर्थ - चाहे आज हो चाहे कल, कैवल्य यानी केवलज्ञान इस साम्य भाव से ही प्राप्त होगा, अन्य किसी विधि से नहीं। अत: अब इस विषय में क्षण भर का भी प्रमाद करना उचित नहीं है॥१९॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कह रहे हैं कि चाहे इस भव में केवलज्ञान हो चाहे आगामी किसी भव में पर जब भी होगा इसी साम्यभाव की साधना से ही होगा और कोई दूसरी विधि है ही नहीं। अत: मुमुक्षु को चाहिए कि वह साम्यभाव को प्राप्त करने के लिए क्षणभर का भी प्रमोद नहीं करे।

जैसे मार्ग स्वयं चल कर ही तय किया जाता है, दूसरा कोई चले तो उससे हमें मंजिल नहीं मिलती अत: ग्रन्थकार प्रेरणा दे रहे हैं कि मोक्षार्थी को समत्व की साधना में अविलम्ब संलग्न हो जाना चाहिए क्षणभर का प्रमाद भी उचित नहीं।

कलुषित मन अकार्यकारी है

किं बुद्धेन किमीशेन किं धात्रा किमु विष्णुना।
किं जिनेन्द्रेण रागाद्यैर्यदि स्व कलुषं मन: ॥२०॥

अर्थ - यदि उपासक का मन ही रागादि से कलुषित है तो बुद्ध, महादेव, विष्णु, ब्रह्मा और जिनेन्द्र देव से भी क्या ? यानी ये भी कुछ नहीं कर सकते- कलुषित मन वाले को कभी मुक्ति नहीं मिलती॥२०॥

भावार्थ - उपासक, किसी भी आराध्य की उपासना करे, चाहे उसके आराध्य बुद्ध हों, चाहे ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से कोई हो या फिर स्वयं जिनेन्द्र ही क्यों न हों, यदि उसका मन कलुषित है, रागद्वेष से रंजायमान है, विकारी भावों से मलिन है तो फिर कोई भी उसकी मुक्ति में सहायक या निमित्त नहीं हो सकता है।

'मन: एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।' मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति में कारण है। निर्मल मन मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है तो मलिन मन संसार के दु:खों का आह्वान करता है। हम परमात्मा की

भक्ति का दिखावा तो करते हैं, उनका जय-जयकार तो करते हैं परन्तु उनके वचनों-उपदेश के अनुसार अपने जीवन को नहीं ढालते, अपने मलिन मन का परिमार्जन नहीं करते, ऐसी दशा में कोई भी महान् आत्मा कैसे किसी की मुक्ति में सहायक हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। अत: आवश्यकता है मन की मलिनता दूर करने की।

समत्व के बिना बाह्यवेष निष्फल है

किं नाग्न्येन सितैः रक्तैः किं पटैः किं जटाभरैः।
किं मुण्डमुण्डनेनापि साम्यं सर्वत्र नो यदि॥२१॥

अर्थ - यदि सब प्रकार से समभाव प्राप्त न हुआ हो तो नग्नपने से क्या प्रयोजन ? सफेद या लाल वस्त्रों के धारण करने से क्या प्रयोजन ? जटा बढ़ाने अथवा सिर मुंडाने से भी क्या प्रयोजन ? ॥२१॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि यदि साम्य भाव-समत्व की उपलब्धि न हो तो बाह्य वेष कैसा भी क्यों न हो, उससे कोई प्रयोजन नहीं रहता, चाहे वह लाल हो, सफेद हो, जटा बढ़ी हुई हो या मस्तक मुण्डित हो या फिर नग्नता ही वेष रूप हो। जैसे एक संख्या बिना शून्य कितने ही हों उनका कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार यदि समत्व प्राप्त न हुआ तो फिर इन बाह्य वेषों का कोई मूल्य नहीं, प्रयोजन नहीं, ये निस्सार हैं।

चित्त की निर्मलता के अभाव में सब क्रियाकाण्ड निरर्थक है

किं व्रतैः किं व्रताचारैः किं तपोभिर्जपैश्च किम्।
किं ध्यानैः किं तथा ध्येयैर्न चित्तं यदि भास्वरम्॥२२॥

अर्थ - यदि चित्त निर्मल न हुआ हो तो व्रतों, व्रताचारों, तप, जप, ध्यान और ध्येय से भी क्या प्रयोजन ? यानी चित्त की निर्मलता के अभाव में यह सब क्रियाकाण्ड निष्फल है॥२२॥

भावार्थ - साधनों से यदि साध्य की सिद्धि न हो तो वे साधन निष्फल

ही कहे जायेंगे, उसी प्रकार यदि व्रतों-नियमों, तदनुसार आचरणों, तप-जप-ध्यान-ध्येय से यदि चित्त में निर्मलता का विकास न हुआ हो तो ये सारी क्रियाएँ निष्फल हैं। पेड़ की पहचान उसके फल से ही होती है, पत्तियों से नहीं, उसी प्रकार क्रियाओं की समीचीनता की परीक्षा उनके परिणाम से होती है, यदि यह सब करते हुए भी चित्त का रागद्वेष समाप्त न हो तो फिर इन क्रियाओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, ये सब क्रियाएँ निरर्थक ही सिद्ध होती हैं।

साम्यभाव के बिना सब क्रियाएँ निरर्थक हैं

किं क्लिष्टेन्द्रियरोधेन, किं सदा पठनादिभिः।
किं सर्वस्वप्रदानेन, तत्त्वं नोन्मीलितं यदि ?॥२३॥

अर्थ - यदि हृदय में साम्य तत्त्व का विकास न हुआ हो यानी हृदय में साम्यभाव न प्रकट हुआ हो तो फिर क्लेशकारक इन्द्रियनिग्रह से क्या प्रयोजन ? रात-दिन शास्त्रों के अभ्यास पठन-पाठन आदि से क्या प्रयोजन? और यहाँ तक कि सर्वस्व का दान करने से भी क्या प्रयोजन ?॥२३॥

भावार्थ - इन्द्रिय निग्रह, स्वाध्याय-पठन-पाठन और सर्वस्वत्याग रूप सदाचरण से भी यदि हृदय में साम्य भाव का उदय नहीं हुआ है तो फिर ये सब क्रियाएँ किस प्रयोजन की हैं ? इन सब क्रियाओं के पालन का फल ही तो है- साम्यभाव की उपलब्धि और यदि वही नहीं होती है तो फिर इन क्रियाओं से क्या प्रयोजन रह जाता है ? ये कोरी कायक्लेश क्रियाएँ ही रह जाती हैं।

निर्मल मन ही तत्त्वरूप है

नाञ्चलो मुखवस्त्रं न, न राका न चतुर्दशी।
न श्राद्धादिप्रतिष्ठा वा, तत्त्वं किन्त्वमलं मनः॥२४॥

अर्थ - वस्त्र का टुकड़ा (अञ्चल), मुखवस्त्र (मुँहपत्ती), पूर्णिमा, चतुर्दशी और श्राद्धादि प्रतिष्ठा-इनमें से कोई भी तत्त्व नहीं है, किन्तु निर्मल मन ही तत्त्व है॥२४॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि बाह्य क्रियायें तभी सार्थक कही जा सकती हैं जब इनसे मन की निर्मलता विकसित हो, क्योंकि साध्य तो मन की निर्मलता है, क्रियायें मात्र साधन हैं, साध्य नहीं। क्रियायें तत्त्व नहीं हैं, तत्त्व तो रागद्वेष रहित-समताभाव से परिपूर्ण निर्मल चित्त है। सभी क्रियाओं का, वेष का, आचरण का, व्रतनियम का प्रयोजन है कि चित्त में समत्व का उदय हो। यदि ऐसा नहीं होता तो ये क्रियाएँ सार्थक नहीं कही जा सकती हैं।

बाह्य क्रियाएँ अनिवार्य नहीं

दृष्ट्वा श्रीगौतमं बुद्धैस्त्रिपञ्चशततापसैः।
भरतप्रमुखैर्वापि क्व कृतो बाह्यकुग्रहः ॥२५॥

अर्थ - श्री गौतम गणधर को देखकर पन्द्रह सौ तापसों को बोध हुआ- वे प्रबुद्ध हुए। तथा भरतचक्री आदि ने भी कौनसी बाह्य क्रियाएँ की थीं ? ॥२५॥

भावार्थ - निर्मल मन के कारण बहुत समय तक बाह्य क्रियाओं का पालन किये बिना भी पन्द्रह सौ तापसों ने केवलज्ञान प्राप्त किया और भरतचक्री ने भी बाह्य अनुष्ठानों का आचरण किए बिना कैवल्य की प्राप्ति की अतः तत्त्व ही प्रमुख है और वह है **निर्मल मन का समत्व भाव।** यदि साम्य भाव प्रकट होता है तो श्रेयस्कर है- फिर चाहे बाह्य क्रियायें हों भी या नहीं भी हों।

दृढ़प्रहारिवीरेण चिलातीपुत्रयोगिना।
चित्तं चन्द्रोज्ज्वलं कार्यं किमतो योग उत्तमः ॥२६॥

अर्थ - दृढ़प्रहारी वीर द्वारा और चिलातीपुत्रयोगी द्वारा अपना चित्त चन्द्रमा के समान उज्ज्वल किये गये कार्य से उत्तम दूसरा योग क्या हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है॥२६॥

भावार्थ - ग्रन्थकार यहाँ उदाहरण प्रस्तुत कर अपनी स्थापना को

पुष्ट कर रहे हैं कि 'चित्त का समत्व' ही प्रधान करणीय है, अन्य क्रियायें तो गौण हैं। यदि ज्ञान और प्रबोधन के माध्यम से चित्त समत्व को उपलब्ध हो जाता है तो अनुष्ठानादि गौण हो जाते हैं। चित्त को निर्मल बनाने के समान दूसरी कोई योगपद्धति नहीं है।

जिस किसी भी तरह चित्त को निर्मल बनाना चाहिए

येन केन प्रकारेण देवताराधनादिना।
चित्तं चन्द्रोज्ज्वलं कार्यं किमन्यैर्ग्रहकुग्रहैः ॥२७॥

अर्थ - परमात्मा की आराधना आदि जिस किसी भी प्रकार से चित्त को चन्द्रमा के समान उज्ज्वल करना चाहिए, इसके सिवाय अन्य बाह्य अनुष्ठानों से क्या प्रयोजन ? ॥२७॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि हृदय में परमात्मा की अटूट भक्ति हो और चित्त को निर्मल बनाने का स्थिर लक्ष्य हो तो फिर बाह्य आडम्बर पूर्ण क्रियाओं की अनिवार्यता नहीं है। अतः जिस किसी भी तरह मन को निर्मल करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

मन-वचन-काय से मन को निर्मल करने का पुरुषार्थ करना चाहिए

तथा चिन्त्यं तथा वाच्यं चेष्टितव्यं तथा-तथा।
मलीमसं मनोऽत्यर्थं, यथा निर्मलतां व्रजेत् ॥२८॥

अर्थ - मलिन मन जिससे अत्यन्त निर्मल हो, वैसा ही सोचना चाहिए, वैसा ही कहना चाहिए और तदनुसार ही शरीर से चेष्टा करनी चाहिए॥२८॥

भावार्थ - मन, वचन और काय की सभी शक्तियाँ चित्त को निर्मल करने के पुरुषार्थ में प्रवृत्त हों तो चित्त की निर्मलता अवश्य प्रकट होगी- इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यही सोचना चाहिए कि मेरा चित्त निर्मल हो, वचन से भी यही उच्चरित होना चाहिए और शरीर से भी वैसी ही चेष्टाएँ या क्रियाएँ करनी चाहिए जिनसे लक्ष्य-प्राप्ति में मदद मिले।

चञ्चलस्यास्य चित्तस्य सदैवोत्पथचारिणः।
उपयोगपरैः स्थेयं, योगिभिर्योगकांक्षिभिः ॥२९॥

अर्थ - सदैव उत्पथ (विपरीत मार्ग-खोटे मार्ग) में विचरण करने वाले इस चंचल चित्त को योग के आकांक्षी योगियों के द्वारा उपयोग में तत्पर रखना चाहिए॥२९॥

भावार्थ - चित्त चञ्चल है और वह पञ्चेन्द्रियों के विषयों और कषायों में दौड़ता रहता है, स्थिर नहीं रहता। योग की इच्छा करने वाले योगियों को ग्रन्थकार परामर्श दे रहे हैं कि उन्हें अन्य सब से हटा कर अपने मन को केवल उपयोग में स्थिर करना चाहिए।

उपयोग जीव का लक्षण हैं। **'उपयोगो लक्षणम्' त.सू. २/८** जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़ कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है। उपयोग जीव का लक्षण होने से आत्मा का स्वरूप (स्वतत्त्व) है तथापि इनमें लक्ष्य-लक्षण की अपेक्षा भेद है। आत्मस्वरूप (स्वतत्त्व) लक्ष्य है और उपयोग लक्षण है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग दो भेद रूप हैं। पुनः ज्ञानोपयोग के आठ भेद-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति-कुश्रुत-कुअवधिज्ञान हैं, तथा दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन चार भेद हैं।

योग का प्रयोजन चित्त की स्थिरता, एकाग्रता है, निजस्वरूप में स्थिति है। विभिन्न साधनाओं का लक्ष्य भी यही है कि आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे, कर्ता-धर्ता नहीं। कर्तृत्व बुद्धि ही मिथ्याबुद्धि है और रागद्वेष उत्पन्न करने वाली है। अतः इसे छोड़कर निज स्वाभाविक स्वरूप में स्थिति अपेक्षित है।

चित्त का शोधन दुष्कर है

सुकरं मलधारित्वं, सुकरं दुस्तरं तपः।
सुकरोऽक्षनिरोधश्च, दुष्करं चित्तशोधनम्॥३०॥

अर्थ - मलिनता को धारण करना अर्थात् मलिन वस्त्रों को धारण करना, दुर्धर्ष तप तपना और पंचेन्द्रियों का निग्रह करना- ये सभी बातें सुकर हैं, आसानी से की जा सकती हैं परन्तु चित्त का शोधन या मन को अपने वश में रखना- यह दुष्कर काम है॥३०॥

भावार्थ - चित्त बहुत चंचल है, अस्थिर है, इसकी गति सर्वाधिक तेज है। एक पल में नरक की बात सोचता है तो दूसरे पल में सिद्ध स्वरूप की। इसको नियंत्रण में लाना, काबू में करना सर्वाधिक कठिन है। यह अदृश्य इन्द्रिय है, इसे न पकड़ा जा सकता है, न रोका जा सकता है। अन्य पञ्च इन्द्रियाँ तो स्थूल हैं, उन्हें रोका जा सकता है, बन्द किया जा सकता है परन्तु मन को नहीं- इसे तो बस अपने ज्ञानस्वरूप में ही स्थिर किया जा सकता है कि यह ज्ञाताद्रष्टा बना रहे। पर यह काम आसान नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इन्द्रियनिरोध भी आसानी से किया जा सकता है, तप भी तपा जा सकता है, मलिन वस्त्र भी धारण किये जा सकते हैं- इन कार्यों में कोई कठिनाई नहीं आती पर सबसे अधिक कठिन काम है- मन को काबू में रखना, उससे रागद्वेष के कलुषित भाव निकालकर बाहर फेंकना।

मुमुक्षु को मनःशुद्धि करनी ही होगी, ऐसा किये बिना मोक्ष का मार्ग नहीं मिलेगा। यद्यपि यह कठिन काम है पर असम्भव नहीं है।

धर्मबुद्धि से किया जाने वाला पाप चिन्त्य है

पापबुद्ध्या भवेत् पापं, को मुग्धोऽपि न वेत्त्यदः।
धर्मबुद्ध्या तु यत् पापं, तच्चिन्त्यं निपुणैर्बुधैः॥३१॥

अर्थ - पापबुद्धि से पाप होता है, इस तथ्य को कौन मूढ़ नहीं जानता परन्तु धर्मबुद्धि से भी पाप होता है, यह बात विज्ञ, कुशल बुद्धिमानों के द्वारा चिन्तनीय है॥३१॥

भावार्थ - ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं कि पापपूर्ण बुद्धि से तो पाप होता ही है- इसे तो सब स्वीकार करते हैं परन्तु कुछ लोग धर्मबुद्धि से भी पाप का ही अर्जन करते हैं यानी आरम्भ, हिंसाजनित प्रवृत्तियों में धर्म मान कर उनको करते रहते हैं- यह बात विशेष चिन्तनीय है। लौकिक जन मूढ़तावश, देखादेखी बाह्य क्रियाओं का तो अनुकरण कर लेता है पर उसके अन्तरंग तत्त्व को नहीं समझता, न उसका अनुकरण ही किया जा सकता है- पर अन्तरंग में समभाव की सिद्धि बिना कोई भी बाह्य क्रिया 'धर्म' होने का गौरव नहीं प्राप्त करती।

धर्म साधना से उपलब्ध होता है, न यह वंशानुगत है, न यह मात्र अनुकरण से प्राप्त होता है और न अन्धश्रद्धा से। सही समझ रखकर की जाने वाली क्रिया जो समभाव उत्पन्न करने में सहायक होती है- वही धर्मक्रिया कही जा सकती है। निपुण मनुष्यों को इस दिशा में सोचना चाहिए।

महामोह का माहात्म्य

अणुमात्रा अपि गुणा दृश्यन्ते स्वधियाऽऽत्मनि।
दोषास्तु पर्वतस्थूला अपि नैव कथञ्चन॥३२॥

त एव वैपरीत्येन विज्ञातव्याः परं वचः।
दिग्मोह इव कोऽप्येष महामोहो महाबलः॥३३॥

अर्थ - दिग्मूढ़ के समान यह महाबली महामोह का ही प्रताप है कि साधक को अपनी बुद्धि से अपने में रहे हुए अणु सदृश सूक्ष्म गुण तो दिख जाते हैं जबकि पर्वत सदृश विशाल, स्थूल दोष भी दिखाई नहीं देते। होना इसके विपरीत चाहिए और वैसा ही वचनों से विज्ञापित करना चाहिए, अपने सूक्ष्म दोष भी पर्वत के समान स्थूल दिखने चाहिए और अपने महान् गुण भी नहीं दिखने चाहिए॥३२-३३॥

भावार्थ - विषय-कषायों से आविष्ट आत्मा को अपना परिमार्जन करने के लिए अपनी दृष्टि में परिवर्तन करना चाहिए। दिग्मूढ़ की तरह भ्रमित

नहीं होना चाहिए। उसे अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म अवगुण भी दृष्टि में लाने चाहिए ताकि उनकी आलोचना कर उनसे मुक्त हुआ जा सके। महान् गुण भी उसमें हों तो उनके प्रति मुखर नहीं होना चाहिए। परन्तु मोह बड़ा बली है, वह ऐसा नहीं करने देता- व्यक्ति को अपने विशाल स्थूल दोष भी दिखाई नहीं देते, जबकि छोटे से छोटा गुण भी दिखाई दे जाता है, यह सब मोह की महिमा है।

मतान्ध अपने ही मत को श्रेष्ठ मानता है

धर्मस्य बहुधाऽध्वानो लोके विभ्रमहेतवः।
तेषु बाह्यफटाटोपा तत्त्वविभ्रान्तदृष्टयः ॥३४॥

स्वस्वदर्शनरागेण विवदन्तो मिथो जनाः।
सर्वथैवात्मनो धर्मं मन्यन्ते न परस्य तु ॥३५॥

अर्थ - लोक में धर्म के नाना मार्ग प्रायः भ्रम में डालने वाले हैं, उन मार्गों पर चलने वाले, बाह्य आडम्बर करने वाले और तत्त्वसम्बन्धी भ्रान्त दृष्टि वाले मनुष्य अपने-अपने दर्शन/मत के राग से परस्पर विवाद करते हुए अपने ही धर्म-पन्थ-मत को सब प्रकार से (श्रेष्ठ) मानते हैं, दूसरे के धर्म को नहीं॥३४-३५॥

भावार्थ - प्रसिद्ध कथन है-

वेदाः विभिन्नाः स्मृतयः विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

आज वस्तुतः यही स्थिति है। इतने पंथ, इतने मत, इतने सम्प्रदाय, इतने दर्शन लोक में दृष्टिगोचर हो रहे हैं कि सामान्य जन यह समझ नहीं पाता कि इसमें सच्चा या वास्तविक मार्ग कौनसा है ? हर एक अपने को श्रेष्ठ मान रहा है, उपादेय मान रहा है और दूसरे को निम्न और हेय। यह दृष्टिराग के कारण है। ग्रन्थकार इस सम्बन्ध में पहले चर्चा कर चुके हैं। वे अगले श्लोक में धर्म की कसौटी स्थिर करते हैं।

यत्र साम्यं स तत्रैव किमात्मपरचिन्तया।
जानीत तद्विना हंहो ! नात्मनो न परस्य च ॥३६॥

अर्थ - यह मेरा, यह दूसरे का, ऐसी चिन्ता से क्या प्रयोजन ? धर्म वहीं है जहाँ साम्य भाव है। अरे ! समभाव के बिना तो कोई धर्म होता ही नहीं- न मेरा न दूसरे का॥३६॥

भावार्थ - धर्म कहाँ है ? ग्रन्थकार उत्तर देते हैं- "यत्र साम्यं स तत्रैव"- जहाँ साम्य (भाव) है वहीं धर्म है। यही धर्म की कसौटी है, इस कसौटी पर जो खरा उतरे फिर चाहे वह 'मेरा हो या दूसरे का', वही धर्म है। 'समता भाव' के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कोई धर्म नहीं हो सकता। राग-द्वेष आदि विषमता से परिपूर्ण को कैसे धर्म कहा जा सकता है, कदापि नहीं।

क्षान्त्यादिर्दशधा धर्मः सर्वधर्मशिरोमणिः।
सोऽपि साम्यवतामेव, मैत्र्यादिकृतकर्मणाम् ॥३७॥

अर्थ - सब धर्मों में शिरोमणि क्षमादि दश प्रकार का धर्म भी मैत्री आदि भावनाओं से वासित हृदय वालों और समता भाव को धारण करने वालों के ही होता है॥३७॥

भावार्थ - ग्रन्थकार से कोई प्रश्न करता है कि वह धर्म किसके होता है ? तो वे उत्तर देते हैं कि जिन मनुष्यों का चित्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और उपेक्षा आदि भावनाओं से परिपूरित है, जिनके हृदय में साम्यभाव का उदय हो चुका है, ऐसे समताधारियों के हृदय में ही वह क्षमादिरूप दशप्रकार का धर्म रहता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य - यह दश प्रकार का धर्म है। शास्त्रकारों ने धर्म के सम्बन्ध में कहा है-

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दहविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणो धम्मो॥

वस्तु का स्वभाव उसका धर्म है, इस दृष्टि से आत्मा का स्वभाव ही उसका धर्म है- और वह स्वभाव है क्षमादि भावरूप दशधा। रत्नत्रय ही धर्म है (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म है) और जीवों की रक्षा करना यानी अहिंसा- करुणा यह धर्म है। ये सब आत्मा के स्वभाव हैं अतः धर्म हैं।

समता भाव ही सब धर्मों का सार है

साम्यं समस्तधर्माणां सारं ज्ञात्वा ततो बुधाः।
बाह्यं दृष्टिग्रहं मुक्त्वा चित्तं कुरुत निर्मलम्॥३८॥

अर्थ - हे बुधजन ! इस प्रकार समस्त धर्मों का सार साम्य भाव है, यह जान कर बाह्य दृष्टिराग को छोड़कर अपने चित्त को निर्मल करो॥३८॥

भावार्थ - ग्रन्थकार बुद्धिमानों को यही परामर्श दे रहे हैं कि पाखण्ड, आडम्बर से परिपूर्ण बाह्य दृष्टिराग-मतान्धता का परित्याग कर अपने मन को निर्मल करने का पुरुषार्थ करो क्योंकि निर्मल मन में ही साम्यभाव का उदय होता है। सभी धर्मों का लघुत्तम समापवर्तक निकाला जाए तो परिणाम यही आएगा कि 'साम्य' ही सब धर्मों का सार है। अतः इसे ही अपने हृदय में धारण करो। यह निर्मल हृदय में ही धारण किया जा सकता है अतः अपने हृदय को इसका पात्र बनाओ, उसे निर्मल करो, रागद्वेष की मलिनता से उसे मुक्त करो।

इति श्रीयोगसारे तत्त्वसारधर्मोपदेशकः द्वितीयः प्रस्तावः।

इस प्रकार श्रीयोगसार ग्रन्थ में तत्त्वसारधर्मोपदेशक नामक दूसरा प्रस्ताव पूर्ण हुआ॥२॥

तृतीयः प्रस्तावः साम्योपदेशकः

मूढ़बुद्धि विषयसुख की चाह करते हैं

सहजानन्दसाम्यस्य, विमुखा मूढबुद्धयः।
इच्छन्ति दुःखदं दुःखोत्पाद्यं वैषयिकं सुखम्॥१॥

अर्थ - मूढ़बुद्धि जन स्वाभाविक आनन्द प्रदान करने वाले साम्य भाव से विमुख होकर दुःख देने वाले और दुःख से उत्पन्न हुए वैषयिक सुख की इच्छा करते हैं॥१॥

भावार्थ - रागद्वेष का परित्याग कर निज सहज साम्य स्वभाव में स्थिति सुख की जनक है। मूढ़ बुद्धि पर में सुख खोजता है। सुख आत्मा का स्वभाव है किसी भौतिक, पौद्गलिक, जड़ पदार्थ में सुख नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में सुख कहीं है ही नहीं-

जो संसारविषै सुख होता, तीर्थङ्कर क्यों त्यागे।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सौं अनुरागे॥

पंचेन्द्रियों के विषयों का सुख, सुख नहीं है। ये विषय-भोग अत्यन्त दुःखदायी हैं-

भोग बुरे भवरोग बढ़ावैं बैरी हैं जग जी के।
बेरस होय विपाक समय अति सेवत लागै नीकै।

वज्र, अग्नि, विष से, विषधर से ये अधिकै दुःखदायी।
धर्मरतन के चोर चपल अति दुर्गति पंथ सहायी॥

मूढ़ बुद्धि बहिरात्मा आत्मा और शरीर को एक मान कर विषय-भोगों की इच्छा करता है, परिणाम स्वरूप उसे दुःख ही भोगना पड़ता है।

विषय और कषाय दुःख रूप ही हैं

कषायाः विषयाः दुःखमिति वेत्ति जनः स्फुटम्।
तथा तन्मुखः कस्माद् धावतीति न बुध्यते॥२॥

अर्थ - कषाय और विषय दुःख रूप ही हैं, मनुष्य इस बात को भली प्रकार जानता है, फिर भी उनकी ओर मुख किये क्यों दौड़ता है, यह बात समझ में नहीं आती॥२॥

भावार्थ - आत्मा का सर्वाधिक अहित करने वाली दो ही चीजें हैं- कषाय और विषय। साधक इस बात को जानता है और कामना करता है कि-

"आतम के अहित विषय कषाय।
इनमें मेरी परिणति न जाय॥"

परन्तु कर्मों से प्रेरित हुआ वह बार-बार इन्हीं की ओर दौड़ता है और कष्ट भोगता है।

मोह उदय यह जीव अज्ञानी भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा सो सब कंचन मानै।
ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित जन पावै।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहर की आवै॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि विषयों और कषायों को भली प्रकार दुःख का कारण जानकर भी यह बहिरात्मा पता नहीं क्यों उन्हीं की तरफ दौड़ता है ? उत्तर यही है कि मोह के वशीभूत हुआ यह अज्ञानी ऐसी भूल बार-बार करता रहता है।

सर्वसङ्ग परित्याग में सुख है

सर्वसङ्गपरित्यागः सुखमित्यपि वेत्ति सः।
सम्मुखोऽपि भवेत् किं न तस्येत्यपि न बुध्यते॥३॥

अर्थ - सर्व प्रकार के परिग्रह का, आसक्ति का परित्याग सुख है, यह बात भी वह जानता है परन्तु फिर भी इसके सम्मुख नहीं होता, यह बात समझ में नहीं आती॥३॥

भावार्थ - जितना-जितना ग्रहण उतना-उतना दुख, जितना-जितना

त्याग उतना-उतना सुख। यह सबके अनुभवगम्य तथ्य है क्योंकि कोई भी जन्म के साथ कुछ लाता नहीं और मरण के साथ कुछ ले जाता नहीं- सब कुछ यहीं रखा रह जाता है फिर भी तृष्णा के वशीभूत हुआ यह जीव जीवन पर्यन्त इकट्ठा करने में, संचय करने में सन्नद्ध रहता है और दु:ख पाता रहता है। आधि, व्याधि और उपाधि सबके परित्याग में ही सुख मिलता है, अनेक महापुरुष इसी त्याग मार्ग पर चल कर संसार से मुक्त हुए हैं। यह सब जानते हुए भी मोही प्राणी 'त्याग' के लिए तत्पर नहीं होता- यह कैसी विडम्बना है ? सो जानी नहीं जाती।

विषय कषाय दुर्भेद्य हैं

सूक्ष्मा: सूक्ष्मतरा: भावा: भेद्यन्ते सूक्ष्मबुद्धिभि:।
एतद् द्वयं तु दुर्भेदं, तेषामपि हि का गति ? ॥४॥

अर्थ - जो पुरुष अपनी सूक्ष्मबुद्धि से अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं के भेद जान सकता है उसके लिए भी इन दो विषय और कषाय - को भेद पाना मुश्किल ही है, तो फिर उनकी (सूक्ष्मबुद्धियों की) क्या गति होगी॥४॥

भावार्थ - अनादिकाल से विषय-कषायों में लिप्त हुआ प्राणी इनसे मुक्त नहीं हो पा रहा है। वह अपनी सूक्ष्मबुद्धि से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भावों के रहस्य को खोज निकालता है, पर इन दो के सम्बन्ध में उसकी सूक्ष्मबुद्धि भी हार मान बैठती है तो फिर ऐसे जीवों की क्या गति हो सकती है? अर्थात् वे दुर्गति के ही पात्र होते हैं।

विषय-कषाय दु:ख देते हैं

अपराधाक्षमा क्रोधो, मानो जात्याद्यहंकृति:।
लोभ: पदार्थतृष्णा च, मायाकपटचेष्टितम्॥५॥

शब्दरूपरसस्पर्श-गन्धाश्च मृगतृष्णिका॥
दु:खयन्ति जनं सर्वं सुखाभासविमोहितम्॥६॥

अर्थ - अपराध के लिए क्षमा नहीं करने से क्रोध, जाति आदि का

अहंकार करने से मान, पदार्थों की तृष्णा-लालसा करने से लोभ, कपट चेष्टा से माया और शब्द-रूप-रस-स्पर्श-गन्ध इन पंचेन्द्रिय के विषयों से सुख प्राप्त करने की मृगतृष्णा, सुख के भ्रम से मुग्ध हुए प्रत्येक जन को दु:खी करते हैं॥५-६॥

भावार्थ - क्रोध मान माया लोभ रूप कषाय और रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द रूप पंचेन्द्रियों के विषयभोग जीवों को दु:खी ही करते हैं। एक-एक इन्द्रिय में आसक्त जीव भी जब दु:खी रहता है तब जो पाँचों के फेर में पड़ा हुआ है वह कैसे सुखी रहेगा। कहा भी है-

अलि पतंग गज मीन मृग जरत एक ही आँच।
तुलसी वे कैसे बचें जिन कहँ व्यापत पाँच॥

कषायें आत्मा को कसती हैं, क्लेश पहुँचाती है, इनसे सुखी होने की आशा ही मृग मरीचिका के समान क्लेशकारी है।

कषाय कर्मरूपी खेत का कर्षण करती है। कर्मों के श्लेष का कारण है, कलुषता है, आत्म स्वरूप की हिंसा करती है और आत्मा के चारित्र परिणाम को घातती है अत: हेय है।

समता भाव से उत्पन्न सुख निराला है

नोपेन्द्रस्य न चेन्द्रस्य तत् सुखं नैव चक्रिण:।
साम्यामृतविनिर्मग्नो योगी प्राप्नोति यत् सुखम्॥७॥

अर्थ - समतारूपी अमृत में मग्न हुआ योगी जिस सुख की प्राप्ति, अनुभूति करता है, वह सुख न विष्णु के है, न इन्द्र के और न ही चक्रवर्ती के॥७॥

भावार्थ - इन्द्रिय सुख और आत्मा में रमणता का सुख भिन्न जाति का है, दोनों में कोई समानता नहीं। साम्य भाव के अमृत सरोवर में डुबकी लगाने वाला योगी जिस कोटि के सुख का अनुभव करता है वैसा सुख विषयों में रमण करने वाले इन्द्र, उपेन्द्र और चक्रवर्ती के कहाँ हो सकता

है। जन्म से ही अस्वस्थ रहने वाला जैसे स्वास्थ्य के सुख की अनुभूति नहीं कर सकता उसी तरह वैषयिक सुखों में रमण करने वाला रागी-द्वेषी व्यक्ति साम्य भाव से उत्पन्न, वीतरागता से निष्पन्न सुख की कल्पना भी नहीं कर सकता, अनुभव की तो बात बहुत दूर है। क्योंकि उस सुख का स्वाद उसे कभी आया ही नहीं-

"सो इन्द्र, नाग, नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ।"

रागद्वेष विष हैं, साम्यभाव अमृत है। दोनों में परस्पर विरोध है अत: रागद्वेषजन्य तथाकथित सुख योगी के साम्यसुख की तुलना में कहीं नहीं ठहरता। ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि वैषयिक सुख हेय है और वीतरागता-साम्यभाव उपादेय है।

अन्त:करण को कषायों से मुक्त करना अपेक्षित है

रागोऽभीष्टेषु सर्वेषु द्वेषोऽनिष्टेषु वस्तुषु।
क्रोध: कृतापराधेषु मान: परपराभवे ॥८॥

लोभ: पदार्थसम्प्राप्तौ माया च परवञ्चने।
गते मृते तथा शोको हर्षश्चागतजातयो: ॥९॥

अरतिर्विषयग्रामे याऽशुभे च शुभे रति:।
चौरादिभ्यो भयं चैव कुत्सा कुत्सितवस्तुषु ॥१०॥

वेदोदयश्च संभोगे व्यलीयेत मुनेर्यदा।
अन्त: शुद्धिकरं साम्यामृतमुज्जृम्भते तदा ॥११॥ कलापकम्

अर्थ - अभीष्ट (इच्छित) वस्तुओं पर राग, अनिष्ट वस्तुओं के प्रति द्वेष, अपराधियों पर क्रोध, दूसरे के तिरस्कार में मान, पदार्थ की प्राप्ति पर लोभ, दूसरों को ठगने में मायाचार, नष्ट हुई, गुजरी हुई वस्तु के प्रति शोक, आने वाली और उत्पन्न हुई वस्तु के प्रति हर्ष, पञ्चेन्द्रियों के अशुभ-विषयों से अरति और शुभ विषयों से प्रीति, चौरादि से भय, कुत्सित-खराब

वस्तुओं के प्रति ग्लानि और संभोग में वेद का उदय-इन सब बातों का जिस मुनि के नाश हो जाता है उसी के, अन्त:करण की शुद्धि करने वाला साम्य रूपी अमृत विकसित होता है, खिलता है॥८-११॥

भावार्थ - शास्त्रों में कषाय के पच्चीस भेदों का उल्लेख आता है। क्रोध, मान, माया और लोभ; इनमें से प्रत्येक की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन रूप चार-चार अवस्थाएँ हैं। इनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ आत्मा के दर्शन गुण का घात करने वाली कषाय है और शेष तीन चारित्र गुण का। इनके अलावा नव नोकषाय भी हैं। नो से अभिप्राय है- ईषत्, किंचित्। स्थिति, अनुभाग और उदयापेक्षा कषायों से इनके (नोकषायों के) अल्पता पाई जाती है इसलिए इनकी संज्ञा 'नोकषाय' है। इनकी संख्या नौ है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद।

ग्रन्थकार ने उपर्युक्त श्लोकों में राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ और हर्ष, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति और तीनों वेदों की चर्चा की है और बताया है कि जब ये कषाय विलीन होते हैं तभी मुनि के अन्त:करण में साम्य भाव का उदय होता है। कषायाविष्ट आत्मा में समता रूपी कमल नहीं खिल सकता है अत: योगी को कषायों का परित्याग कर अन्त:करण को निर्मल बनाना चाहिए।

कषाय विवेक को नष्ट करती है

एतेषु येन केनापि कृष्णसर्पेण देहिनः।
दष्टस्य नश्यति क्षिप्रं विवेकवरजीवितम्॥१२॥

अर्थ - उपर्युक्त रागादिरूप काले नागों में से किसी एक के द्वारा भी डस लिये जाने पर व्यक्ति का विवेकरूपी जीवन शीघ्र नष्ट हो जाता है॥१२॥

भावार्थ - ग्रन्थकार ने कषायों को काले नाग की संज्ञा दी है। जैसे

काले नाग का विष चढ़ने पर व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है, अपने होश हवास खो बैठता है उसे अपनी सुध नहीं रहती है, उसी प्रकार कषायग्रस्त व्यक्ति भी अपना विवेक नष्ट कर लेता है, उसे कषायावेश में भले-बुरे की पहचान भी नहीं रहती, उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता अत: वह अपने साम्यभाव का घात कर लेता है। कषायें विवेक को नष्ट करती हैं अत: उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कषाय दुर्विजेय हैं

दुर्विजेया दुरुच्छेद्या एतेऽभ्यन्तरवैरिण:।
उत्तिष्ठमाना एवातो रक्षणीया: प्रयत्नत: ॥१३॥

अर्थ - उपरिकथित रागादि अभ्यन्तर शत्रुओं को जीतना अथवा उनका उच्छेद करना तो अत्यन्त कठिन है, फिर भी इनके खड़े होते ही प्रयत्न पूर्वक इनको रोककर अपने प्राणों की रक्षा करनी चाहिए॥१३॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि कषायों को जीतना या इनको उखाड़ फेंकना इतना आसान नहीं है फिर भी यदि इन शत्रुओं के जन्म लेते ही उनको नष्ट करने का पुरुषार्थ करें तो अपने आत्मस्वभाव की रक्षा हो सकती है। यह अनुभवगम्य बात है कि किसी व्यक्ति को जो अनुचित काम करने जा रहा है- कोई देखले तो फिर वह उस अनुचित कर्म से विरत हो जाता है, उसे नहीं करता, इसी प्रकार जब ये अभ्यन्तर शत्रु हृदय में जन्म लेने को हों, तभी इन पर दृष्टि डाल दी जाए तो फिर ये खड़े नहीं हो सकेंगे, दब जायेंगे और यही क्रम चलते रहने पर एक दिन इनका हृदय में उठना भी बन्द हो जाएगा।

दु:ख और सुख के कारण

यद्यात्मा निर्जितोऽमीभिस्ततो दु:खागमो महान्।
यद्यात्मना जिता एते महान् सौख्यागमस्तदा ॥१४॥

अर्थ - यदि इन रागादि अभ्यन्तर शत्रुओं द्वारा आत्मा जीत लिया

जाता है तो (समझना चाहिए कि) महान् दुःख आने वाला है और यदि ये आत्मा के द्वारा जीत लिये जाते हैं तो (समझना चाहिए कि) महान् सुख का आगमन होने वाला है॥१४॥

भावार्थ - अभ्यन्तर शत्रुओं द्वारा आत्मा को परास्त किये जाने पर उसका संसार-परिभ्रमण बढ़ता है और उसे संसार में नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं जबकि आत्मा यदि इनको परास्त कर दे और अपने साम्य स्वभाव में स्थिरता करे तो उसे शीघ्र संसार-परिभ्रमण से छुटकारा मिलता है। संसार ही दुःखरूप है, मुक्ति-मोक्ष महान् सुख से परिपूर्ण है। परन्तु मोह-मूढ़ प्राणी की विचित्रदशा है- वह

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन॥५॥

और-

आतम हित हेतु विराग, ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान॥६॥

यह सब मोह की लीला है और जहाँ मोह है, वहाँ रागद्वेष कषाय अवश्य ही होते हैं जो संसार बढ़ाते हैं।

स्वाभाविक आनन्दनिमग्नता

सहजानन्दता सेयं सैवात्मारामता मता।
उन्मनीकरणं तद् यद् मुनेः रामरसे लयः॥१५॥

अर्थ - मुनि का शमरस-समभाव में लीन होना ही सहजानन्दता (स्वाभाविक आनन्द) है, वही आत्मारामता है और वही उन्मनीकरण या उदासीन भाव है॥१५॥

भावार्थ - शमरस कहो, समभाव कहो, सहजानन्दता कहो, आत्मारामता या आत्मरमण कहो या फिर उदासीनता कहो- सबका अभिप्राय एक ही है। परस्वरूप से हटकर निज आत्मा में प्रवेश ही सर्व सुखों का जनक है। विभाव क्लेश उत्पन्न करते हैं, स्वभाव आनन्द से परिपूर्ण होता है। रागद्वेष से मुक्त होकर आत्मा जब अपने स्वभाव में लीन होता है, अपने

में रमण करता है, आत्मिक सुख की अनुभूति करता है, समता के अमृत सरोवर में डुबकियाँ लगाता है तब वह संसार-शरीर और भोगों से पूर्ण उदासीन होता है। पूज्यपादऋषि का कथन है-

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभाः अपि॥

जैसे-जैसे ज्ञान और समाधिभाव आत्मा में आता है त्यों-त्यों सुलभ विषयों में भी रुचि नहीं रहती यानी उदासीनता आती है।

साम्यभाव ही सेवनीय है

साम्यं मानसभावेषु, साम्यं वचनवीचिषु।
साम्यं कायिकचेष्टासु, साम्यं सर्वत्र सर्वदा॥१६॥

स्वपता जाग्रता रात्रौ दिवा चाखिलकर्मसु।
कायेन मनसा वाचा साम्यं सेव्यं सुयोगिना॥१७॥

अर्थ - मानसिक विचारों में, वचन वीचियों में और कायिक चेष्टाओं में, सोते में, जागते में, रात्रि में, दिन में, सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में मन, वचन और काया से उत्तम योगी को सर्वत्र सर्वदा समभाव का ही सेवन करना चाहिए॥१६-१७॥

भावार्थ - योगी के लिए सारभूत तत्त्व एक समभाव ही है। उसे अपनी मन-वचन-काय की सम्पूर्ण शक्तियों के माध्यम से सदा-सर्वदा, सर्वत्र समभाव की ही सेवा, आराधना, उपासना करनी चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण साधना का एक यही लक्ष्य है।

स्वयं को समभाव में स्थिर कर

यदि त्वं साम्यसन्तुष्टो विश्वं तुष्टं तदा तव।
तल्लोकस्यानुवृत्त्या किं स्वमेवैकं समं कुरु॥१८॥

अर्थ - यदि तू साम्य-समभाव में सन्तुष्ट है तो तेरे लिए सम्पूर्ण

विश्व तुष्ट है अत: तुझे लोक की परवाह से क्या प्रयोजन तू, तो केवल अपने चित्त को समभावस्वरूपी कर॥१८॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि साम्यभाव को धारण करने वाले को समभाव में स्थिर रहने का ही पुरुषार्थ करना चाहिए- उसे लोक की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि समभाव में तुष्ट रहने वाले के लिए तो लोक का रोष और तोष दोनों ही बराबर है। और फिर समभाव के आराधक के प्रति तो लोक भी तुष्ट ही रहता है, लोक की दृष्टि में उसकी समवृत्ति सराहनीय ही होती है।

सारी साधना समत्व की सिद्धि के लिए है

श्रुतश्रामण्ययोगानां प्रपञ्च: साम्यहेतवे।
तथाऽपि तत्त्वतस्तस्माज्जनोऽयं प्लवते बहि: ॥१९॥

अर्थ - श्रुत (शास्त्र), श्रामण्य (महाव्रतधारण) और योग (ध्यान, समाधि) इन सबका प्रपंच-विस्तार तत्त्वत: साम्यभाव की प्राप्ति के लिए है, फिर भी यह मनुष्य उस साम्यभाव से बाहर-ही-बाहर डुबकियाँ लगाता रहता है॥१९॥

भावार्थ - सभी साधनाओं का लक्ष्य राग से विराग की ओर, विषमता से समता की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर और पर से निज की ओर प्रवृत्ति करना है। शास्त्र इसी का उपदेश देते हैं, महाव्रत भी इसीलिए धारण किये जाते हैं और ध्यान-समाधि-योग का प्रयोजन भी समत्व की सिद्धि ही है। अभिप्राय यह है कि साध्य तो समभाव ही है, बाकी सब इसी को पाने हेतु प्रपंच है, विस्तार है, साधन हैं।

निज को सुधार, पर को छोड़

स्वाधीनं स्वं परित्यज्य विषमं दोषमन्दिरम्।
अस्वाधीनं परं मूढ ! सामीकर्तुं किमाग्रह: ?॥२०॥

अर्थ - हे मूढ़ ! जब तक तू स्वयं दोषों का विषम घर बना हुआ

है और अपने को सुधारने में स्वतंत्र है, तब तक तू अपने आपको छोड़कर जो पर है- जो तुम्हारे आधीन नहीं है, उसको सुधारने का आग्रह क्यों करता है ?

भावार्थ - 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' प्रवृत्ति वाले साधकों के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि जब तू स्वयं दोषों का घर बना हुआ है तो पहले अपने आप को तो सुधार, स्वयं को सुधारने में तू स्वतंत्र है अत: तू चाहे तो यह काम सम्भव भी है। पर जो तेरे आधीन नहीं है, तुझसे भिन्न है, पर हैं, उनको सुधारने का तेरा आग्रह क्यों है ! दूसरों में परिवर्तन करना अपने सामर्थ्य में नहीं है, हाँ अपने में कोई सुधार परिवर्तन करना चाहे तो ऐसा करने हेतु व्यक्ति स्वतंत्र है, अत: पहले अपने आपको ही सुधारने या दोषमुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ''तुझको पराई क्या पड़ी, अपनी निबेड़ तू।''

योगी को समभाव में रहना चाहिए

वृक्षस्यच्छेद्यमानस्य भूष्यमाणस्य वाजिन: ।
यथा न रोषस्तोषश्च, भवेद् योगी समस्तथा ॥२१॥

अर्थ - जिस प्रकार काटे जाने वाले वृक्ष को और अलंकृत किये जाने वाले घोड़े को क्रमश: रोष (द्वेष) और तोष (राग) नहीं होता, उसी प्रकार योगी को भी इन दोनों-राग और द्वेष में समभाव रखना चाहिए॥२१॥

भावार्थ - जिस प्रकार कटता हुआ भी वृक्ष काटने वाले से या आरी से द्वेष नहीं करता और सजाया जाता हुआ भी घोड़ा सजाने वाले से या आभूषणों से राग नहीं करता उसी प्रकार दु:ख और सुख की परिस्थितियों में योगी को सदैव समता भाव धारण करना चाहिए, अपने साम्यभाव से विचलित नहीं होना चाहिए।

''होकर सुख में मग्न न फूलें, दु:ख में कभी न घबरावें।''

योगी को स्वाभाविक सहजानन्द में लीन रहना चाहिए

सूर्यो जनस्य तापाय सोमः शीताय खिद्यते।
तद् योगी सूर्यसोमाभः, सहजानन्दतां भजेत् ॥२२॥

अर्थ - जैसे सूर्य जीवों को तप्त करने और चन्द्रमा उन्हें शीतलता पहुँचाने हेतु तत्पर रहता है, वैसे ही सूर्य और चन्द्रमा के समान योगी को अपने सहज आनन्द में तल्लीन रहना चाहिए॥२२॥

भावार्थ - वैभाविक प्रवृत्ति सायास होती है जबकि स्वभाव में रहने के लिए कोई श्रम नहीं करना पड़ता। सूर्य का ताप पहुँचाना और चन्द्रमा का शीतलता पहुँचाना स्वभाव है, ऐसा करने में उन्हें कोई श्रम नहीं करना पड़ता क्योंकि ऐसा करना उनका स्वाभाविक धर्म है, सहज धर्म है। उसी प्रकार शुद्ध आत्मा का स्वाभाविक धर्म है- अपने सुख में तृप्त रहना। ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि जैसे अन्य वस्तुएँ अपने-अपने स्वाभाविक धर्म में सहज रूप से तिष्ठती हैं उसी प्रकार साधक योगी को भी अपने स्वाभाविक धर्म अनन्त सुख में ठहरने का उपक्रम करना चाहिए। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं- इनके बिना आत्मा होता ही नहीं। समभाव की साधना करते हुए जब साधक संसार से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा लेता है तब उसकी आत्मा में ये सहज रूप से प्रकट होते हैं (अनन्तचतुष्टय)।

शुभ ध्यान के प्रयोग से अशुभ ध्यान छूटता है

यथा गुडादिदानेन, यत् किञ्चित् त्याज्यते शिशुः।
चलं चित्तं शुभध्यानेनाशुभं त्याज्यते तथा ॥२३॥

अर्थ - जैसे गुड़ (मिठाई) आदि का लालच देकर शिशु के पास से कोई वस्तु छुड़ाई जा सकती है, वैसे ही शुभ ध्यान के प्रयोग से चञ्चल चित्त में से अशुभ ध्यान का त्याग कराया जा सकता है॥२३॥

भावार्थ - बालक हठी होता है, जिद्दी होता है, आसानी से अपनी

चीज दूसरे को नहीं देता पर जैसे वह भी मिठाई का लालच दिये जाने पर जो कुछ उसके पास है, उसे देने को तत्पर हो जाता है, उसी प्रकार शुभ ध्यान के माध्यम से चंचल चित्त से अशुभ ध्यान का निवारण किया जा सकता है। ध्यान दो तरह का माना गया है- शुद्ध और अशुद्ध-अशुद्ध के पुनः दो भेद हैं- शुभ और अशुभ। शुभ ध्यान में स्थिरता से अशुभ ध्यान का निवारण किया जा सकता है, और क्रमशः शुद्ध ध्यान उपलब्ध किया जा सकता है। अशुभ का तो संकल्प पूर्वक त्याग करना ही पड़ता है, ऐसा किये बिना 'शुभ ध्यान' भी नहीं होगा।

सब आत्माएँ समान हैं

सर्वभूताविनाभूतं स्वं पश्यन् सर्वदा मुनिः।
मैत्र्याद्यमृतसंमग्नः क्व क्लेशांशमपि स्पृशेत्॥२४॥

अर्थ - जो मुनि हमेशा अपने आप को सब जीवों से व्याप्त-अभिन्न देखता है- जानता है और जो मैत्री आदि भावनाओं के अमृत में लीन रहता है, उसे क्लेश का अंश भी कैसे स्पर्श करेगा ? अर्थात् नहीं कर सकता॥२४॥

भावार्थ - जो मुनि अपनी आत्मा की ही तरह जगत् की अन्य आत्माओं को जानता-देखता है अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसे सभी जीव हैं, सब आत्माएँ समान हैं, ऐसा मानता है और इसीलिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य (उपेक्षा) भावनाओं के अमृत सरोवर में डुबकी लगाता रहता है, ऐसे समभाव के साधक को दुःख का लव मात्र भी, अंश मात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता, उसे कभी क्लेश नहीं उठाना पड़ता।

साम्यभाव ही सुख है

नाज्ञानाद् बालको वेत्ति, शत्रुमित्रादिकं यथा।
तथाऽत्र चेष्टते ज्ञानी, तदेहैव परं सुखम्॥२५॥

अर्थ - जिस प्रकार बालक अपने अज्ञान से किसी को शत्रु, किसी को मित्र नहीं समझता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी किसी को शत्रु, किसी

को मित्र न मानकर (समभाव से) चेष्टायें करता रहे तो उसे इसी लोक में यहाँ ही परम सुख की प्राप्ति होती है॥२५॥

भावार्थ - बालक अबोध होता है- उसे शत्रु-मित्र की पहचान नहीं होती, वह सबको समान समझता है और वैसा ही व्यवहार भी करता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान से सबको समान समझकर किसी में शत्रु और किसी में मित्र-ऐसा व्यवहार न कर समभाव से चेष्टाएँ करता है तो इस समभाव के कारण उसे यहीं इस लोक में ही परम सुख की उपलब्धि होती है। यह सब महिमा साम्यभाव की है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'।

कषायविषयाक्रान्त जीवों के रोषतोष से क्या प्रयोजन

तोषणीयो जगन्नाथस्तोषणीयश्च सद्गुरुः।
तोषणीयस्तथा स्वात्मा किमन्यैर्बत तोषितैः ?॥२६॥

कषायविषयाक्रान्तो बहिर्बुद्धिरयं जनः।
किं तेन रुष्टतुष्टेन तोषरोषौ च तत्र किम्?॥२७॥

अर्थ - जगत् के स्वामी-वीतराग देव को, सद्गुरु को और अपनी आत्मा को ही तुष्ट रखना चाहिए, अन्य को तुष्ट करने से क्या ? अर्थात् कुछ नहीं। संसारी जन कषायों और विषयों से घिरा हुआ, बहिरात्म बुद्धि बना रहता है, उसके रुष्ट और तुष्ट होने से क्या ? इसी प्रकार उस पर भी तोष और रोष करने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि जगन्नाथ-परमात्मा ने हमें मुक्ति का मार्ग बताया है, सद्गुरु उस मार्ग पर स्वयं चल रहे हैं और शिष्यों को भी उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे रहे हैं और हमारी आत्मा उनका आदेश मानकर उस मार्ग पर प्रवृत्ति कर रही है अतः यदि किसी को सन्तुष्ट करना आवश्यक ही हो तो इन तीन को ही संतुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। जगन्नाथ-परमात्मा हैं, सद्गुरु अन्तरात्मा हैं। संसारी, रागीद्वेषी बहिरात्मा है। बहिरात्मा के रुष्ट-तुष्ट होने से या उस पर साधक के रोष-

तोष करने से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती अत: उसे ऐसे रोष-तोष से बचना चाहिए। समभाव की आराधना करने वाला साधक रागद्वेष को हेय समझता है अत: उनसे दूर रहता है।

काल के प्रभाव से असदाचार की बहुलता

असदाचारिण: प्रायो लोका: कालानुभावत:।
द्वेषस्तेषु न कर्त्तव्य: संविभाव्य भवस्थितिम् ॥२८॥

अर्थ - काल (पंचम काल) के प्रभाव से अधुना लोक प्राय: सदाचार रहित हो गया है। अत: संसार की स्थिति को भली प्रकार देख कर, विचार कर उन (असदाचारियों) पर द्वेष नहीं करना चाहिए॥२८॥

भावार्थ - जैन धर्म के अनुसार काल के दो भेद हैं- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी में सभी बातें क्रमश: वृद्धि पर होती हैं तो अवसर्पिणी में घटती हुई। प्रत्येक काल के छह-छह भेद हैं। घड़ी में १२ से ६ तक का समय चक्र उतरता हुआ है और ६ से १२ तक का समयचक्र चढ़ता हुआ। ऐसा ही काल का स्वरूप है। इस समय अवसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है अत: सभी बातें ह्रास की ओर हैं, इसी को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थकार कह रहे हैं कि साधक को संसार की स्थिति का विचार कर काल के प्रभाव से उत्पन्न हुए दोषों के कारण असदाचारियों पर द्वेष नहीं करना चाहिए। वे तो करुणा के पात्र हैं, द्वेष के नहीं।

आत्मतत्त्व की प्रतीति

नि:संगो निर्मम: शान्तो निरीह: संयमे रत:।
यदा योगी भवेदन्तस्तत्त्वमुद्भासते तदा ॥२९॥

अर्थ - जब योगी नि:संग (परिग्रह रहित), निर्मम (ममत्व रहित) शान्त, निरीह (इच्छा रहित) और संयम में लीन होता है तब उसके आत्मिक तत्त्व प्रकाशित होता है॥२९॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि जब साधक पर से हटकर

अपने में आता है तब वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा होता है और उसके 'आत्मतत्त्व' प्रकट होता है। जब तक परिग्रह में आसक्ति रहेगी, पर-पदार्थों में ममत्व भाव रहेगा, इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहेगी तब तक आत्मस्वरूप से पहचान नहीं होगी। इन निषेधों के साथ संयम में उसकी प्रवृत्ति भी आवश्यक है। सर्व बाह्य संसर्ग से हटकर निज स्वरूप में प्रतपन का नाम संयम है। इन विशेषताओं या योग्यताओं से सम्पन्न होने पर ही साधक को यथार्थ आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है। तभी वह 'निज को निज और पर को पर' अनुभव कर पाता है।

साम्यभाव से प्राप्त अद्‌भुत आनन्द

सद्‌वृक्षं प्राप्य निर्वाति रवितप्तो यथाऽध्वनः।
मोक्षाध्वस्थस्तपस्तप्तस्तथा योगी परं लयम्॥३०॥

अर्थ - जैसे सूर्य के ताप से संतप्त हुआ (कोई राहगीर) मार्ग में किसी अच्छे (छायादार) वृक्ष को पाकर आनन्दित होता है वैसे ही मोक्ष मार्ग में नाना प्रकार की तपस्याओं से तप्त हुआ योगी 'लयम्' एकाग्रता-समता को पाकर सुखी होता है॥३०॥

भावार्थ - जैसे मंजिल मिल जाने पर मार्ग की सारी थकान दूर हो जाती है उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले साधक को कई विधिनिषेधों के अनुसार आचरण-व्यवहार करना होता है, उसकी बाह्य प्रवृत्ति भी बड़ी संयत और सीमित हो जाती है। इच्छानिरोध रूपी तप को तपता हुआ वह अनेक उपसर्गों और परीषहों को भी सहन करता है, शनैः शनैः पर से हटता हुआ निज स्वरूप में रमण करता है। यहाँ उसे साम्यभाव की, एकाग्रता की, आत्मस्वरूप में लीनता की अनुभूति होती है। इस समय उसे जिस आनन्द का साक्षात्कार होता है ग्रन्थकार ने उसे समझाने के लिए घाम से तप्त हुए राही को छायादार वृक्ष की उपलब्धि से होने वाले आनन्द का उदाहरण देकर समझाया है। पर एकाग्रता-समता-निजस्वरूप में लीनता से प्राप्त आनन्द की बस यह एक झलक मात्र है, वह आनन्द इस भौतिक

आनन्द से बहुत बढ़कर है। उस आनन्द को तो मात्र अनुभव करने वाला ही जानता है, उस आत्मानुभूति को पौद्गलिक शब्दों में ठीक-ठीक अभिव्यक्त भी नहीं किया जा सकता है। उसकी स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी-

"गूंगे केरी शर्करा, खावै और मुसकावै।"

समता भाव मोह की सेना को नष्ट करता है

इति साम्यतनुत्राणत्रातचारित्रविग्रहः।
मोहस्य ध्वजिनीं धीरो विध्वंसयति लीलया ॥३१॥

अर्थ - इस प्रकार साम्यभाव रूपी कवच से चारित्र रूपी देह की रक्षा करते हुए धीर (पुरुष) लीला मात्र में यानी आसानी से मोह की सेना का नाश कर देता है॥३१॥

भावार्थ - जैसे युद्धभूमि में योद्धा के शरीर की रक्षा उसका कवच करता है ठीक उसी प्रकार साधक द्वारा धारण किए गए चारित्र रूपी देह की सुरक्षा उसका समता भाव रूपी कवच करता है। उसी साम्यभाव से वह मोह की सेना के रागद्वेष रूपी सुभटों का नाश करता है। इनका नाश करने में अब उसे कठोर श्रम नहीं करना पड़ता। समता भाव के कारण बड़ी आसानी से मोह की सेना नष्ट कर ली जाती है।

॥ इति श्रीयोगसारे साम्योपदेशकप्रस्तावस्तृतीयः ॥

इस प्रकार श्रीयोगसार ग्रन्थ में साम्योपदेशक नामका तीसरा प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

चतुर्थः प्रस्तावः सत्त्वोपदेशकः

सत्त्वहीन जन धर्म का अधिकारी नहीं

त्यक्त्वा रजस्तमोभावौ सत्त्वे चित्तं स्थिरीकुरु।
न हि धर्माधिकारोऽस्ति हीनसत्त्वस्य देहिनः ॥१॥

अर्थ - रजोभाव और तमोभाव का त्याग कर सत्त्व भाव में अपने चित्त को स्थिर करो, (क्योंकि) हीनसत्त्व शरीरधारी धर्म का अधिकारी नहीं होता॥१॥

भावार्थ - सांख्य मत में प्रकृति के तीन गुण माने गये हैं- सत्त्व, रज और तम। इनमें से बुरे कामों की ओर प्रवृत्ति कराने वाला तमोगुण है। भोगविलास और ऐश्वर्य की ओर प्रवृत्ति कराने वाला रजोगुण है और अच्छे कामों व आत्मस्वरूप में रुचि कराने वाला सत्त्व गुण है।

ग्रन्थकार के अनुसार तामसी और राजसी प्रकृति वाला व्यक्ति धर्म ग्रहण करने, उसका पालन करने का अधिकारी ही नहीं है अतः धर्म में रुचि रखकर उसे अपने जीवन में अपनाने वाले देहधारियों को अपने चित्त को सत्त्व में-श्रेष्ठभाव में, निज आत्मा में, अपने चैतन्य स्वरूप में स्थिर करना चाहिए। अशुभ को सर्वथा छोड़ शुभ में प्रवृत्ति करनी चाहिए और शुद्ध की ओर बढ़ने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

हीनसत्त्व भी धर्मधारण की पात्रता नहीं रखता। अतः साधक को अपने चित्त को सत्त्व में ही स्थिर करने का उपाय करना चाहिए।

हीनसत्त्व जीव संसार में आसक्त होता है

हीनसत्त्वो यतो जन्तुर्बोधितो विषयादिभिः।
बाढं पतति संसारे स्वप्रतिज्ञाविलोपनात् ॥२॥

अर्थ - क्योंकि हीनसत्त्व जीव, विषयादिक से पीड़ित हुआ अपनी पूर्व की प्रतिज्ञा का लोप कर फिर से संसार में खूब आसक्त हो जाता है॥२॥

भावार्थ - सत्त्व सम्पन्न या सात्त्विक जीव धीरता, गम्भीरता, उदारता, परदु:खकातरता, प्राणिमात्र से मैत्री, संयम, तप, त्याग में रुचिशील और आत्मा के सभी उदात्तगुणों से समृद्ध होता है। अत: हर आने वाली विपरीत परिस्थिति, उपसर्ग और परीषह को सहन करने का सामर्थ्य रखता है परन्तु हीनसत्त्व, दुर्बल चित्त मनुष्य प्रतिकूलताओं में हिम्मत हार बैठता है और यमनियम रूप ली हुई अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं को छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकता। वह विषयभोगों के आकर्षण से खिंच कर सांसारिक राग-रंग में डूब जाता है और इस प्रकार अपनी संसारस्थिति में वृद्धि करता है।

अणुव्रत, महाव्रत रूप प्रतिज्ञाओं का पालन करना खांडे की धार पर चलने के समान बहुत कष्टकर है। बिरले सिंह ही इन प्रतिज्ञाओं का पालन कर पाते हैं। हीनसत्त्व जीव इस क्षेत्र से दुम दबाकर पलायन कर जाते हैं और फिर से विषय-कषायों के दलदल में धँस जाते हैं।

सत्त्वहीन पुन: सावद्यक्रियाओं में संलग्न हो जाता है

सावद्यं सकलं योगं प्रत्याख्यायान्यसाक्षिकम्।
विस्मृतात्मा पुन: क्लीव: सेवते धैर्यवर्जित: ॥३॥

अर्थ - धर्मकार्य में अनुत्साही, अधीर, हीनसत्त्व पुरुष दूसरों की साक्षी में किये गये सावद्य व्यापार के त्याग वाले नियम को भूल कर पुन: सावद्य क्रियाओं के सेवन में संलग्न हो जाता है॥३॥

भावार्थ - सत्त्व की हीनता के कारण दुर्बल मनुष्य अधीर होकर अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञाओं का विस्मरण कर देता है और पहले जिन सावद्य क्रियाओं का, हिंसापूर्ण क्रियाओं-व्यापारों का पर-साक्षी में त्याग किया था, फिर से उन्हीं वर्जित व्यापारों में संलग्न हो जाता है, यह सब सत्त्व की हीनता का ही दुष्परिणाम है।

आतम के अहित विषय कषाय

तावद् गुरुवच: शास्त्रं तावत् तावच्च भावना:।
कषायविषयैर्यावद् न मनस्तरली भवेत् ॥४॥

अर्थ - गुरुओं के वचनों, शास्त्र के बोध और भावनाओं में रुचि तभी तक बनी रहती है जब तक कषायों और विषयों से मन चञ्चल नहीं होता॥४॥

भावार्थ - आत्मा का सर्वाधिक अहित करने वाले पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषाय हैं, ये प्रत्यक्ष में ही दु:ख देने वाले हैं परन्तु फिर भी जीव इनके सेवन में ही सुख मानता है, इनकी रुचि चित्त को चंचल बना देती है और चित्त की चंचलता के कारण, गुरुवचन, शास्त्र और भावनाओं के प्रति जो रुचि बनी थी, उसका लोप हो जाता है। विषय-कषाय चित्त को स्थिर नहीं रहने देते और अस्थिर चित्त में धर्मकार्यों के प्रति उत्साह जाग्रत नहीं होता।

मन दुर्जय है

कषायविषयग्रामे धावन्तमतिदुर्जयम्।
य: स्वमेव जयत्येकं स वीरतिलक: कुत: ?॥५॥

अर्थ - कषायों और विषयों के समूह की तरफ दौड़ने वाले स्वयं के दुर्जय मन को जो जीत सके ऐसा वह वीरशिरोमणि कहाँ ?॥५॥

भावार्थ - 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।' बन्ध और मोक्ष का कारण यह मन ही है। अत: सभी आचार्यों ने मन को वश में करने का उपदेश दिया है। योगीन्दुदेव कहते हैं-

पंचहि णायक वस करहु जेम होइ वस अण्णु।
मूलविणट्ठहि तरुवरहि अवसहि सुक्कइ पण्णु॥

परन्तु मन को जीतना इतना आसान नहीं है। यह अदृश्य इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियों को रोका जा सकता है, ढका जा सकता है, बन्द किया जा सकता है, पर मन के साथ ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता अत: इसे वश में करना टेढ़ी खीर है। कोई विरला वीर पुरुष ही इसे नियंत्रित करने में समर्थ होता है, अन्य साधारण जन नहीं। मन को जीतने वाले को ग्रन्थकार

ने 'वीरतिलक' कहा है। ऐसे वीरतिलक अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं क्योंकि मन को जीतने का कारनामा करने वाले बहुत कम है। युद्धभूमि में शत्रुओं को जीतना आसान है पर एक अपने मन को वश में करना बहुत कठिन काम है।

परीषहजय कठिन है

धीराणामपि वैधूर्यकरैः रौद्रपरीषहैः।
स्पृष्टः सन् कोऽपि वीरेन्द्रः संमुखो यदि धावति ॥६॥

अर्थ - ऐसा कोई विरला ही वीरेन्द्र (वीर पुरुष) होता है जो धीर पुरुषों को भी कम्पित करने वाले भयंकर परीषहों के आने पर उनके सम्मुख दौड़ पड़े॥६॥

भावार्थ - परीषह जैन पारिभाषिक शब्दावली का विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है- जो सहन की जाँय वह परीषह है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इसे यों परिभाषित किया है-

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। त.सू. ९/८।

अभिप्राय है- मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार के अनुसार ये परीषह २२ हैं- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

साधक को साधनावस्था में कषायों और दोषों के क्षीण न होने से सब परीषह सम्भव है। परीषह को जीतना परीषहजय है। क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन नहीं करना क्षुधापरीषहजय है। इसी प्रकार पिपासादि परीषहों की ओर लक्ष्य न जाना ही उस-उस नाम की परीषहजय है। एक साथ एक आत्मा में उन्नीस तक परीषह विकल्प से हो सकते हैं-

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥९/१७ त.सू.॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि इन भीषण परीषहों को ललकारने वाले वीर पुरुष विरले ही होते हैं। इन भीषण बाधाओं के सामने सत्त्वहीनों का तो धैर्य जवाब दे बैठता है। वे तो इनके आगे समर्पण कर देते हैं और प्रतिज्ञाभंग के दोष से दूषित हो जाते हैं। परीषह सहन करना बड़ी धीरता और साहस का काम है।

उपसर्ग में धैर्य और असंयम में भीरुता अपेक्षित है

उपसर्गे सुधीरत्वं सुभीरुत्वमसंयमे।
लोकातिगं द्वयमिदं मुनेः स्याद् यदि कस्यचित् ॥७॥

अर्थ - उपसर्ग के समय धीरपना और असंयम से भीरुपना-ये दो लोकोत्तर बातें भाग्य से ही किसी मुनि में होती हैं॥७॥

भावार्थ - साधना का मार्ग सरल राजपथ नहीं है। वह कण्टकाकीर्ण है- उपसर्ग और परीषह से परिपूर्ण है। उपसर्ग संकट, उपद्रव को कहते हैं। यह मनुष्यकृत देवकृत, पशुकृत और प्राकृतिक भी हो सकता है। इस समय धैर्य धारण करना बहुत आवश्यक है। सत्त्वशाली बलवान आत्मा ही ऐसा कर सकती है, निर्बल आत्मा का धैर्य छूट जाता है। इसी प्रकार असंयम से साधक को डरते रहना चाहिए तभी तो धारित संयम सध सकता है, इसमें भी बड़ा धैर्य और साहस चाहिए, अन्यथा पतन होने में देर नहीं लगती।

ग्रन्थकार कहते हैं कि ये दो दुर्लभ बातें भाग्य से ही किसी मुनि में मिलती हैं यानी अधिकांश साधक उपसर्ग, परीषह और असंयम की स्थिति आने पर समर्पण कर बैठते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

विषय, कषाय, परीषह और उपसर्ग सभी दुःसह हैं

दुस्सहा विषयास्तावत् कषाया अतिदुःसहाः।
परीषहोपसर्गाश्चाधिक दुःसह दुःसहाः ॥८॥

अर्थ - विषय दुःसह हैं, कषाय अतिदुःसह हैं और परीषह तथा उपसर्ग तो उनसे भी अधिक दुःसह-दुःसह हैं॥८॥

भावार्थ - ग्रन्थकार इस श्लोक में साधना में बाधा उपस्थित करने वाले कारणों की तरतमता तय कर रहे है। उनके अनुसार विषय दु:सह हैं। कषाय दु:सहतर हैं और परीषह और उपसर्ग दु:सहतम यानी अधिकाधिक दु:सह हैं। ये सभी साधक की कठोर परीक्षा लेते हैं। इन सबको समता, सहिष्णुता और धीरता पूर्वक सहन करने वाला साधक ही अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है, इनसे विचलित हो जाने वाला साधक मुक्ति से बहुत दूर रहता है।

चित्त का निग्रह करने वाला मुनि ही काम को जीत सकता है

जगत्त्रयैकमल्लश्च कामः केन विजीयते।
मुनिवीरं विना कंचिच्चित्तनिग्रहकारिणम्॥९॥

अर्थ - अपने चित्त का निग्रह करने वाले किसी मुनिवीर के बिना तीनों लोकों में अद्वितीय मल्ल के समान कामदेव किससे जीता जा सकता है अर्थात् किसी से नहीं॥९॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कह रहे हैं कि तीनों लोकों में महामल्ल काम ने सबको पछाड़ रखा है। अपने चित्त का निग्रह करने वाला कोई सत्त्वशाली मुनि ही इस काम को पराजित कर सकता है, अन्य कोई नहीं। कामदेव का नाम मनोज, मनोभू और मनोभव भी है। वह मन से जन्म लेता है, मन में ही उसकी उत्पत्ति होती है अत: जिसने मन को जीत लिया, मन को अपने वश में कर लिया ऐसा कोई मनोजयी महामुनि ही उस काम को जीत सकता है।

काम के वशीभूत हुए मुनियों का अध:पतन होता है

मुनयोऽपि यतस्तेन विवशीकृतचेतसः।
घोरे भवान्धकूपेऽस्मिन् पतित्वा यान्त्यधस्तलम्॥१०॥

अर्थ - क्योंकि उस काम के द्वारा विवश कर दिये गये हैं चित्त जिनके ऐसे मुनि भी संसार रूपी घोर अन्ध कूप में गिर कर अधोगति को प्राप्त करते हैं॥१०॥

भावार्थ - व्रत, नियम, संयम, तप का जीवन जीने वाले मुनिगण भी काम के प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते। काम उनके चित्त में प्रवेश कर विकार उत्पन्न कर देता है तब वे उसके वशीभूत होकर अपने संयमी जीवन से च्युत होकर अपना संसार बढ़ाते हैं और अधोगति-नरक को प्राप्त करते हैं।

काम धैर्य, विवेक और महत्त्व का हरण कर लेता है

तावद् धैर्यं महत्त्वं च तावत् तावद् विवेकिता।
कटाक्षविशिखान् यावद् न क्षिपन्ति मृगेक्षणाः ॥११॥

अर्थ - धैर्य, महत्त्व और विवेक तभी तक रहता है जब तक मृगनयनी स्त्रियाँ अपने कटाक्षबाण नहीं फेंकती॥११॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि काम द्वारा वशीभूत हुए मुनिगण मृगनयनी स्त्रियों के कटाक्षबाणों से आहत होकर अपना धैर्य, महत्त्व और विवेक सब कुछ नष्ट कर लेते हैं और दुर्गति के भाजन होते हैं।

कामासक्त व्यक्ति स्त्री का दास हो जाता है

गृहं च गृहवार्तां च राज्यं राज्यश्रियोऽपि च।
समर्प्य सकलं स्त्रीणां चेष्टन्ते दासवज्जनाः ॥१२॥

अर्थ - घर और घर की बातें, राज्य और राज्यलक्ष्मी सब कुछ स्त्रियों को समर्पित कर मनुष्य उनके दास की भाँति होकर चेष्टायें करने लगते हैं॥१२॥

भावार्थ - कामान्ध व्यक्ति अपना सब कुछ कामिनी के प्रति समर्पित कर उनके दास हो जाते हैं। मान-मर्यादा, विवेक, व्रत-नियम सभी छोड़ बैठते हैं।

स्त्र्यासक्त की धर्म में रुचि नहीं होती

सा मित्रं सैव मन्त्री च सा बन्धुः सैव जीवितम्।
सा देवः सा गुरुश्चैव सा तत्त्वं स्वामिनी च सा ॥१३॥

रात्रौ दिवा च सा सा सा सर्वं सर्वत्र सैव हि।
एवं स्त्र्यासक्तचित्तानां क्व धर्मकरणे रतिः ? ॥१४॥ युग्मम्।

अर्थ - वह स्त्री ही मित्र, मन्त्री, बन्धु, जीवित (जीवन), देव, गुरु, तत्त्व और स्वामिनी है, (इस प्रकार मानने वाला) रात हो, चाहे दिन हो सब अवसरों पर, सब जगहों पर स्त्री, स्त्री और स्त्री में आसक्त चित्तवाला होकर धर्मकार्य में रति कैसे कर सकता है ? ॥१३-१४॥

भावार्थ - विषयासक्त धर्म में रति नहीं कर सकता है। ये दोनों विपरीत ध्रुव हैं- कहा भी है-

दो मुख सूई सिवै न कन्था, दो मुख पंथी चलै न पंथा।
यों दो काज न होय सयाने, विषयभोग और मोक्षप्रयाने॥

स्त्री में आसक्त चित्तवालों की धर्मक्रिया में रुचि नहीं सधती है। एक में रुचि दूसरे में अरुचि पैदा करती है। धर्म में रुचि, विषयों के प्रति अरुचि होने पर ही सधती है अतः जो विषयान्ध है, कामान्ध है, स्त्र्यासक्त है उसे धर्म में रुचि कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

कोई विरला महात्मा ही स्त्री के आकर्षण से मुक्त होता है

स्त्रीसमुद्रेऽत्र गम्भीरे निमग्नमखिलं जगत्।
उन्मज्जति महात्माऽस्माद् यदि कोऽपि कथंचन॥१५॥

अर्थ - स्त्री रूप गम्भीर समुद्र में सम्पूर्ण जगत् डूबा हुआ है। इसमें से कहीं कोई महात्मा ही भाग्य से बाहर निकलता है॥१५॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि सम्पूर्ण मानव समुदाय स्त्रीरूप गम्भीर गहन समुद्र में डूबा हुआ है यानी मनुष्यगण स्त्री में आसक्त हैं। कोई विरला महात्मा ही उस समुद्र से बाहर निकल पाता है यानी स्त्री के आकर्षण से कोई भाग्यशाली महात्मा ही छूटता है वरन् सारा पुरुष समुदाय इसी आकर्षण में आकण्ठ निमग्न है।

हीनचित्त को तो उदरपूर्ति की चिन्ता सताती रहती है

दूरे दूरतरे वास्तु खड्गधारोपमं व्रतम्।
हीनचित्तस्य हि चिन्ता स्वोदरस्यापि पूरणे॥१६॥

अर्थ - तलवार की धार के समान व्रत-महाव्रत तो दूर-अत्यन्त दूर रहो, हीनचित्त वाले को तो (साधु के वेश में होने पर भी) स्वयं के उदरभरण की भी चिन्ता लगी रहती है॥१६॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कह रहे हैं कि हीन चित्त वाला साधु व्रत-महाव्रत पालन करना तो बहुत दूर उसे अपनी उदरपूर्ति की महती चिन्ता लगी रहती है क्योंकि दुर्बलचित्त का कोई भी आदर-सत्कार, सम्मान-सेवा नहीं करता है। श्रावक समाज भी उसे हीन दृष्टि से देखता है और उसकी उपेक्षा करता है।

हीनचित्त साधु की दीनता

यत् तदर्थं गृहस्थानां बहुचाटुशतानि सः।
बहुधा च करोत्युच्चैः श्वेव दैन्यं प्रदर्शयन्॥१७॥

अर्थ - क्योंकि अपनी उदरपूर्ति हेतु सैकड़ों प्रकार से कुत्ते की भाँति दीनता दिखाता हुआ वह गृहस्थों की खुशामद करता है॥१७॥

भावार्थ - हीनचित्त, हीनसत्त्व साधु को अपनी उदरपूर्ति के भी लाले पड़ते हैं, विवश हो उसे कुत्ते की भाँति रोटी के लिए दुम हिलाने की तरह गृहस्थों की चाटुकारिता-चापलूसी करनी पड़ती है।

उदरपूर्ति के लिए चाटुकारिता

त्वमार्या त्वं च माता मे त्वं स्वसा त्वं पितुःष्वसा।
इत्यादिज्ञातिसंबन्धान् कुरुते दैन्यमाश्रितः॥१८॥

अहं त्वदीयपुत्रोऽस्मि कवलैस्तव वर्धितः।
तव भागहरश्चैव जीवकस्ते तवेहकः॥१९॥

एवमादीनि दैन्यानि क्लीबः प्रतिजनं मुहुः।
कुरुते नैकशस्तानि कः प्रकाशयितुं क्षमः ?॥२०॥

अर्थ - दीनता का आश्रय लेकर वह अनेक प्रकार के जाति सम्बन्ध स्थापित करता है कि 'आप मेरी दादी हैं', 'आप मेरी माँ हैं', 'आप मेरी बहन हैं', 'आप बूआ हैं', 'मैं आपका पुत्र हूँ', 'आपके कवलों-ग्रासों से ही बड़ा हुआ हूँ' 'आपका भागीदार हूँ', 'आपका आश्रित हूँ', 'आपको चाहने वाला हूँ', इस प्रकार वह कायर पुरुष हरेक मनुष्य की जो अनेक प्रकार से खुशामद करता है, उसको प्रकट करने, बताने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं॥१८-२०॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का भाव यह है कि अपनी कमजोरियों के कारण अपना पेट भरने के लिए भी साधु को गृहस्थों की चापलूसी करनी पड़ती है जो उसकी चर्या के प्रतिकूल है। साधु निर्भीक, निडर और सिंहवृत्ति वाला होता है, श्वानवृत्ति वाला नहीं।

हीनसत्त्व साधु सिंहवृत्ति धारण नहीं कर सकता

आगमे योगिनां या तु सैंही वृत्तिः प्रदर्शिताः।
तस्यास्त्रस्यति नाम्नापि का कथाऽऽचरणे पुनः ?॥२१॥

अर्थ - आगम में योगियों की जो सिंहवृत्ति दर्शायी गयी है, उसके तो नाम से भी वह डरता है तो फिर आचरण में लाने की तो कथा ही कैसी?॥२१॥

भावार्थ - हीनसत्त्व साधु अपनी दुर्बलताओं के कारण सिंहवृत्ति नहीं धारण कर पाता, उसे उदरपूर्ति हेतु भी गृहस्थों के आगे कुत्ते की भाँति दुम हिलानी पड़ती है, उनकी खुशामद करनी पड़ती है, वह तो 'सिंहवृत्ति' के नाम से भी भयभीत होता है, उसे अपने आचरण में उतारने की तो वह सोच भी नहीं सकता।

हीनसत्त्व साधु व्रतों का परित्याग कर प्रपंच में उलझता है

किन्तु सातैकलिप्सुः स वस्त्राहारादिमूर्च्छया।
कुर्वाणो मन्त्रतन्त्रादि गृहव्याप्तिं च गेहिनाम् ॥२२॥

कथयंश्च निमित्ताद्यं लाभालाभं शुभाशुभम्।
कोटिं काकिणिमात्रेण हारयेत् स्वं व्रतं त्यजन् ॥२३॥ युग्मम्

अर्थ - किन्तु वह शारीरिक सुख का इच्छुक बनकर वस्त्र-आहारादि के प्रति ममत्व भाव रखता हुआ मंत्र-तंत्र के प्रयोग करता है, गृहस्थों की घर सम्बन्धी चिन्ता करता है; निमित्त, शकुन, व्यापार में नफा-नुकसान, शुभ-अशुभ आदि का कथन करता हुआ अपने व्रतों का त्याग करता है मानों कौड़ी के लिए करोड़ रुपये हार जाता है॥२२-२३॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि सिंहवृत्ति को धारण करने वाला योगी अपनी कमजोरियों के कारण श्वान की तरह आचरण करता है। अपना प्रभाव जमाने के लिए मंत्र-तंत्र, निमित्त, शकुन, व्यापार के नफा-नुकसान, शुभ अशुभ आदि बताता है, इस तरह अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर वस्त्र-आहारादि की प्राप्ति के लिए अपने व्रतों का भी परित्याग कर देता है। ऐसा करके वह उसी प्रकार की मूर्खता करता है जैसे कोई कौड़ी की प्राप्ति के लिए करोड़ रुपए हार जाय।

वस्त्राहार के लोभी मुनि की अज्ञानता

चारित्रैश्वर्यसम्पन्नं पुण्यप्राग्भारभाजनम्।
मूढबुद्धिर्न वेत्ति स्वं त्रैलोक्योपरिवर्त्तिनम् ॥२४॥

अर्थ - किन्तु चारित्र रूपी ऐश्वर्य से सम्पन्न होने से स्वयं का आत्मा अनन्त पुण्य का भाजन होकर तीनों लोकों में सर्वोपरि यानी श्रेष्ठ वर्तन करेगा। इस तथ्य को मूर्ख बुद्धि (वह उपरिकथित योगी) नहीं जानता है॥२४॥

भावार्थ - वस्त्र और आहार का लोभी हीनसत्त्व मुनि गृहस्थों की चापलूसी कर अपने ग्रहण किये हुए व्रतों से च्युत हो जाता है, वह मूर्खबुद्धि

यह नहीं समझता कि यदि वह धारण किये हुए चारित्र का ठीक-ठीक पालन करेगा तो अनन्त पुण्य का पात्र होकर वह एक दिन लोक में सर्वोपरि वर्तन करेगा यानी सर्वकर्ममुक्त होकर सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेगा।

अनन्त चतुष्टय का धनी आत्मा भ्रमवश अपने को भिखारी मानता है

ततश्च भिक्षुकप्रायं मन्यमानो विपर्ययात्।
भावनि:स्वधनेशानां ललनानि करोत्यऽसौ ॥२५॥

अर्थ - वह मूर्खबुद्धि अपनी विपरीत मान्यतानुसार अपने को भिखारी जैसा मान कर भावों से (आध्यात्मिक ऐश्वर्य से) निर्धन परन्तु द्रव्य (धन) से समर्थ ऐसे धनी लोगों की खुशामद करता है॥२५॥

भावार्थ - आध्यात्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होने की योग्यता रखने वाला आत्मा अपने निज वैभव को भूलकर अपने आपको रंक मानते हुए लोक में सम्पन्न कहे जाने वालों (धनवानों) से धन की याचना करता है, उनकी खुशामद करता है। ये सब उसके आचरण के प्रतिकूल क्रियाएँ हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ऐसे योगी को मूढ़बुद्धि कहते हैं।

आत्मा के लिए आत्मिक ऐश्वर्य ही प्रयोजनभूत है, भौतिक ऐश्वर्य की न उसे चाह होनी चाहिए, न उसे इसका संग्रहण करना चाहिए। आत्मिक ऐश्वर्य आत्मा का निजी वैभव है, धन है जिसे उससे कोई छीन नहीं सकता, जबकि भौतिक वैभव क्षणभंगुर है, नाशशील है और पर के द्वारा हरण भी किया जा सकता है। अत: ग्रन्थकार कहते हैं कि अपने आपको हे आत्मन्! गरीब, भिखारी मत समझो, तुम अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और बल के धनी हो, अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न हो, अत: पुरुषार्थ कर निज स्वरूप में प्रवेश करो। तनिक से द्रव्य के लिए लोगों की चाटुकारिता क्यों करते हो? अपने स्वरूप को सही-सही समझो।

आध्यात्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न योगी के आगे इन्द्र भी रंक है

प्रशान्तस्य निरीहस्य सदानन्दस्य योगिन:।
इन्द्रादयोऽपि ते रंकप्राया: स्यु: किमुतापरा: ?॥२६॥

अर्थ - प्रशान्त, निस्पृह और सदैव आत्मानन्द में डूबे रहने वाले योगी के आगे इन्द्रादि भी रंक तुल्य होते हैं, दूसरों की तो बात ही क्या! ॥२६॥

भावार्थ - अनन्त चतुष्टय-दर्शन-ज्ञान-सुख और बल-से सम्पन्न आत्मा के निजीवैभव के आगे लोक का सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्य तुच्छ है, इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा है कि भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न भी इन्द्र आत्मानन्द में डूबे रहने वाले योगी की तुलना में रङ्क जैसा ही है। योगी परम शान्त होता है, उसके इच्छाओं का अभाव होता है और वह अपनी आत्मा के सहज आनन्द में निमग्न रहता है, उस जैसा समृद्धिशाली लोक में कोई नहीं हो सकता है।

सांसारिक सुख-वैभव दुःख के कारण हैं

किं विभुत्वेन किं भोगैः किं सौन्दर्येण किं श्रिया।
किं जीवितेन जीवानां दुःखं चेत् प्रगुणं पुरः ?॥२७॥

अर्थ - यदि भविष्य में दुःख-प्राप्ति की सम्भावना हो तो जीवों को अपने वैभव से, भोगों से, सौन्दर्य से, लक्ष्मी से और जीवन से भी क्या प्रयोजन ?

भावार्थ - ग्रन्थकार यह कहना चाह रहे हैं कि वर्तमान के भौतिक वैभव के बीच रहकर यदि मनुष्य अपना कल्याण करे तो भविष्य में उंसे दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे परन्तु यदि वर्तमान में प्राप्त वैभव से, विपुल भोगों से, शारीरिक सौन्दर्य से और लक्ष्मी से यहाँ तक कि जीवन से भी-यदि दुःखप्राप्ति की ही सम्भावना हो तो फिर यह वैभव, यह जीवन किस-काम का?

वर्त्तमान में हमें जो कुछ मिला है, अपने पुण्योदय से मिला है। अब यदि हम उसका उपयोग आत्मकल्याण में, आत्मविकास में करें तो उसका पाना सार्थक है, पर ऐसा न कर यदि विपरीत आचरण करें तो प्राप्त सम्पदा भी दुःख का कारण ही सिद्ध होगी।

इच्छाओं से पीड़ित व्यक्ति सतत भागदौड़ करता रहता है

नार्थ्यते यावदैश्वर्यं तावदायाति सम्मुखम्।
यावदभ्यर्थ्यते तावत् पुनर्याति पराङ्मुखम्॥२८॥

अधैर्यादविचार्येदमिच्छाव्याकुलमानसः।
हा हा हेति तदर्थं स धावन् धावन् न खिद्यते॥२९॥ युग्मम्

अर्थ - जब तक ऐश्वर्य पाने की इच्छा नहीं होती, तब तक तो वह सामने आता रहता है और ज्यों ही उसे पाने की इच्छा उत्पन्न होती है त्योंही वह पराङ्मुख होकर चला जाता है। इस रहस्य पर विचार न करके इच्छाओं से व्याकुल बना हुआ अधीर मानस उस ऐश्वर्य को पाने के लिए दौड़-भाग करता हुआ भी नहीं थकता है॥२८-२९॥

भावार्थ - लोकोक्ति है- "बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।" यानी जब आप याचना करते हैं तो भीख भी नहीं मिलती और जब आप नहीं मांगते, त्याग कर देते हैं तो उस पुण्य के फलस्वरूप मोती भी सहज सुलभ हो जाते हैं। इस बात पर विचार न करके इच्छाओं से घिरा हुआ अधीर व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए निरन्तर कोल्हू के बैल की तरह गतिशील रहता है, दौड़ता रहता है पर उसके हाथ कुछ भी नहीं आता क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, वे कभी समाप्त नहीं होतीं। एक के पूर्ण होने पर अनेक और जाग जाती हैं और व्यक्ति इन्हीं की पूर्ति हेतु दौड़ भाग करता रहता है।

धीर, गम्भीर पुरुष सुख और दुःख में समरूप रहते हैं

स्थिरो धीरस्तु गम्भीरः सम्पत्सु च विपत्सु च।
बाध्यते न च हर्षेण, विषादेन न च क्वचित्॥३०॥

अर्थ - जो पुरुष स्थिर, धीर और गम्भीर होता है, वह तो सम्पत्ति के लाभ में हर्ष से फूलता नहीं है और विपत्ति के आने पर विषाद से आविष्ट नहीं होता है॥३०॥

भावार्थ - धीर, गम्भीर पुरुष संसार की स्थिति को जानते हैं कि सुख और दु:ख दिन और रात के समान निरन्तर आते-जाते रहते हैं-

''चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दु:खानि च।''

अत: वे

''होकर सुख में मग्न न फूलें, दु:ख में कभी न घबरावें।''

वे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में समरूप रहते हैं। क्योंकि वे वस्तु स्वरूप को ठीक-ठीक समझते हैं।

सत्त्व बिना सिद्धि नहीं

ये सिद्धा ये च सेत्स्यन्ति सर्वे सत्त्वे प्रतिष्ठिता:।
सत्त्वं विना हि सिद्धिर्न प्रोक्ता कुत्रापि शासने॥३१॥

अर्थ - भूतकाल में जो सिद्ध हुए हैं और भविष्य में जो सिद्ध होंगे वे सब सत्त्व में प्रतिष्ठित होकर ही हुए हैं और आगे भी वैसे ही होकर होंगे। जैन शासन में 'सत्त्व के बिना ही सिद्धि हो जाएगी' ऐसा कहीं नहीं कहा है॥३१॥

भावार्थ - सात्त्विक वृत्ति वाला ही मुक्ति का अधिकारी है, राजसिक और तामसिक वृत्ति वाला नहीं। आज तक जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है और आगे भी जो मोक्ष प्राप्त करेंगे- वे सब सत्त्व-भाव से परिपूर्ण होकर ही ऐसा कर सके हैं और आगे भी करेंगे। सत्त्व से अभिप्राय है- चैतन्य, निज आत्मा में स्थिति। पर से हटकर निज में अवस्थिति। रजोगुण और तमोगुण में पर का आश्रय है, परावलम्बन है अत: इन उपायों से उद्धार नहीं होता, पतन होता है जबकि पर से हटकर अपनी ही सत्ता में, सत् में, निज अस्तित्व में रमण करे तो मोक्ष मिलता है।

आरम्भी, परिग्रही की मुक्ति नहीं

एवमेव सुखेनैव सिद्ध्यन्ति यदि कौलिका:।
तद् गृहस्थादयोऽप्येते किं न सिद्ध्यन्ति कथ्यताम्? ॥३२॥

अर्थ - यदि बिना सत्त्व में स्थित हुए यों ही आसानी से सिद्धावस्था मिल जाती तो आरम्भ और परिग्रह में लिप्त गृहस्थादि कौलिक (कुल परम्परा से चले आ रहे आचार के पालक) सत्त्व स्थिति के बिना ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेते, कहो ?

भावार्थ - आरम्भी, परिग्रही, सुखाभिलाषी और कषायवान जीव को मोक्ष नहीं मिलता। इनसे छूटकर अपने ही सत् स्वरूप में रमण करने वाले अपरिग्रही महात्मा को मुक्ति मिलती है।

सभी जीव विषय-सुखाभिलाषी हैं

सुखाभिलाषिणोऽत्यर्थं ग्रस्ता ऋद्ध्यादिगौरवैः।
प्रवाहवाहिनो ह्यत्र दृश्यन्ते सर्वजन्तवः ॥३३॥

अर्थ - लोक में प्रायः सभी जीव ऋद्धि (समृद्धि) आदि के गौरव से युक्त सुख की अभिलाषा से ग्रस्त हैं और इसी प्रवाह में बहते हुए दिखाई देते हैं।

भावार्थ - प्रायः सम्पूर्ण लौकिक जन विषयों की अभिलाषा लिये भौतिक सम्पदाओं की प्राप्ति हेतु रात-दिन दौड़-भाग किया करते हैं। वे विषयसुख-इन्द्रियसुख को ही परमसुख मानते हैं क्योंकि आत्मिक सुख से उनका परिचय नहीं है। दूसरी बात- भौतिक सुख-सम्पदा की प्राप्ति मात्र उद्योग-पुरुषार्थ से नहीं होती- वह कर्माधीन है। उद्योग करने में कोई कसर नहीं रखता परन्तु मिलता सबको अलग-अलग है, किसी को नहीं भी मिलता। यह प्रवाह में बहने के समान है, जिसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, धारा जिस ओर बह रही है उसमें बिना किसी आयास के व्यक्ति बहता चलता है। धारा के विपरीत चलने में बहुत पुरुषार्थ अपेक्षित होता है जिसे कोई बिरला ही साध पाता है। सुख की अभिलाषा के प्रवाह में बहने वालों को मोक्ष नहीं मिलता, उनका संसार-परिभ्रमण चलता रहता है।

विषयसुखों से मोक्ष नहीं

एवमेव सुखेनैव सिद्धिर्यदि च मन्यते।
तत्प्राप्तौ सर्वजन्तूनां तदा रिक्तो भवेद् भवः ॥३४॥

अर्थ - सत्त्व बिना भौतिक विषयसुखों से ही यदि सिद्धि-मोक्षप्राप्ति मानी जाती है तो फिर सभी प्राणियों को मोक्ष मिल जाय और यह संसार खाली हो जाय॥३४॥

भावार्थ - पंचेन्द्रियों के विषयों से प्राप्त होने वाले सुख में आसक्ति रखने वालों को ही यदि मोक्ष की सिद्धि हो जाय-यदि ऐसा माना जाय-तो फिर सब जीवों को मोक्ष हो जाएगा क्योंकि सभी संसारी प्राणी इन विषय सुखों में ही निमग्न रहते हैं, आसक्त रहते हैं, एक क्षण भी इनसे नहीं छूटते। ऐसी दशा में संसार की स्थिति नहीं रहेगी, सभी जीवों के मोक्ष चले जाने से संसार रिक्त हो जाएगा।

सात्त्विक ही जीतता है

लोकेऽपि सात्त्विकेनैव जीयते परवाहिनी।
उद्धूलकोऽपि नान्येषां दृश्यतेऽह्नाय नश्यताम् ॥३५॥

अर्थ - संसार में भी सत्त्वसम्पन्न पुरुषों के द्वारा ही शत्रु की सेना जीती जाती है, कायर पुरुष तो डर कर वहाँ ऐसे नाश को प्राप्त होते हैं कि उनका पता ही नहीं लगता॥३५॥

भावार्थ - लौकिक कार्यक्षेत्र में भी सत्त्वसम्पन्न पुरुष ही सफल होते हैं, कायर पुरुष नहीं। साहसी पुरुष ही शत्रुसेना को परास्त कर सकते हैं, भीरु नहीं। उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हीनसत्त्व असफल होते हैं, सत्त्वसम्पन्न ही अपने लक्ष्य की सिद्धि कर सकते हैं।

सात्त्विक ही मोह की सेना को जीतता है

लोकोत्तरान्तरंगस्य मोहसैन्यस्य तं विना।
सम्मुखं नापरैः स्थातुं शक्यते नात्र कौतुकम् ॥३६॥

अर्थ - सात्त्विक पुरुष के अलावा दूसरा कोई मोह की अलौकिक अन्तरंग सेना के सामने खड़ा भी नहीं रह सकता, इस सम्बन्ध में कोई आश्चर्य करने जैसी बात नहीं॥३६॥

भावार्थ - सात्त्विक पुरुष ही मोहरूपी सेना के राग-द्वेष रूपी महासुभटों को परास्त कर सकता है। लौकिक सुखों का आकांक्षी, वस्त्र और आहार में ही उलझे रहने वाला कभी अन्तरंग शत्रु मोह को नहीं जीत सकता।

दीन को दुष्कर वही ज्ञानी को सुकर

सर्वमन्यस्य दीनस्य दुष्करं प्रतिभासते।
सत्त्वैकवृत्तिवीरस्य ज्ञानिनः सुकरं पुनः॥३७॥

अर्थ - दीन पुरुष को सभी कार्य दुष्कर मालूम पड़ते हैं जबकि ज्ञानी और सत्त्वधारण करने वाले वीर पुरुष को वे ही कार्य सुकर-आसान ज्ञात होते हैं॥३७॥

भावार्थ - दीन और अज्ञानी तथा वीर और ज्ञानी की दृष्टि में अन्तर होने के कारण उनकी चर्या में भी अन्तर आ जाता है। जो कार्य दीन-दुर्बल और अज्ञानी को कठिन मालूम पड़ते हैं वे ही कार्य वीर पुरुष और ज्ञानी के लिए आसान प्रतीत होते हैं।

सत्त्वसम्पन्न जन बहुत थोड़े हैं

द्वित्रास्त्रिचतुरा वापि यदि सर्वजगत्यपि।
प्राप्यन्ते धैर्यगाम्भीर्यौदार्यादिगुणशालिनः॥३८॥

अर्थ - सम्पूर्ण जगत् में धीरता, गम्भीरता, उदारता आदि गुणों से युक्त पुरुष दो, तीन या तीन चार ही मिल सकते हैं॥३८॥

भावार्थ - लोक में सत्त्वशाली अध्यात्म रुचि सम्पन्न लोगों की संख्या बहुत कम है, वे अंगुली पर गिनने लायक ही हैं। अधिक संख्या तो मोहग्रस्त जीवों की है। मोह को पछाड़ने वाले साहसी सत्त्वशाली वीर दो तीन या फिर तीन चार ही होंगे। लोक में अधिकांश संख्या तो मिथ्यादृष्टि जीवों

की ही है। सम्यक्त्व सम्पन्न तो अंगुलियों पर गिनने लायक ही हैं। धैर्य, गाम्भीर्य और औदार्य तथा आत्मनिष्ठा जैसे गुण तो बिरले अन्तरात्मा जीवों में ही मिलते हैं।

यह लोक संसारपूर्ति करने वालों से भरा है

बाहुल्येन तदाभासमात्रा अपि कलौ कुतः ?।
बुसप्रायैस्तु लोकोऽयं पूरितो भवपूरकैः ॥३९॥

अर्थ - उपरिकथित गुणों वाले नहीं अपितु उन जैसा आभास कराने वाले पुरुष इस कलियुग में बहुलता से कैसे हैं ? कारण कि यह जगत् छिलके (फूतरा) जैसे संसारपूर्ति करने वाले मनुष्यों से खचाखच भरा हुआ है ॥३९॥

भावार्थ - इस लोक में मिथ्यात्वी जीवों की ही बहुलता है। ग्रन्थकार ने ऐसे मनुष्यों को दाल के छिलके-फूतरे के समान बताया है और कहा है कि ये लोग फूतरे के समान निस्सार हैं और केवल संसारपूर्ति करने वाले हैं। ये न अपना हित कर पाते हैं और न दूसरों का। छिलके के समान इनमें भी कोई गुण नहीं होता।

दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर भी आत्मकल्याण से विमुख रहने वाले पशु हैं

मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा ये न लोकोत्तरं फलम्।
गृह्णन्ति सुखमायत्यां पशवस्ते नरा अपि ॥४०॥

अर्थ - जो मनुष्य दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भविष्य में सुख देने वाले लोकोत्तर फल को नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वे मनुष्य पशु तुल्य हैं ॥४०॥

भावार्थ - मनुष्य पर्याय के माध्यम से मुक्ति रूपी मंजिल तक पहुँचना है। जो ऐसा नहीं कर पाते हैं और अपना संसार ही बढ़ाते रहते हैं, ग्रन्थकार ने उन मनुष्यों को पशु तुल्य कहा है। क्योंकि पशु भी आत्मोत्थान या आत्मविकास नहीं कर सकते हैं।

मनुष्य-पर्याय की प्राप्ति होना दुर्लभ है। इस दुर्लभ पर्याय को पाकर भी जो आत्मकल्याण में प्रवृत्ति नहीं करते, उनकी यह पर्याय निष्फल जाती

है। फिर इस पर्याय में और पशुपर्याय में अन्तर ही क्या रहा ? अत: ग्रन्थकार ने निष्फल मनुष्य को पशु कहा है।

सात्त्विक पुरुष ही धर्म की साधना कर सकता है

तत् पुनर्मोक्षदो धर्म: शीलांगवहनात्मक:।
प्रतिश्रोत:प्लवात् साध्य: सत्त्वसारैकमानसै: ॥४१॥

अर्थ-मोक्ष प्रदान करने वाला धर्म ही लोकोत्तर फल है, शील के अंगों का यथाविधि पालन करना यही धर्म है और प्रवाह के सामने यानी धारा के प्रतिकूल चल कर सात्त्विक पुरुष ही इस धर्म की सिद्धि कर सकता है।

भावार्थ - लोकप्रवाह में बहना अपना संसार बढ़ाना है। लौकिक प्रवाह के प्रतिकूल चलकर मोक्ष की साधना करना मनुष्यपर्याय की सार्थकता है, जिसे सत्त्वशाली मनुष्य ही कर सकता है। सत्त्वसम्पन्न पुरुष ही मोक्ष प्रदान करने वाले धर्म की साधना कर सकता है। यह धर्म शील के विविध अंगों से युक्त है जिनका पालन विषयों से विरक्त रहने वाला, स्वरूप में रमण करने वाला कोई सत्त्वशाली पुरुष ही कर सकता है,सामान्य जन नहीं।

सुधर्म में उद्यम करो

तत: सत्त्वमवष्टभ्य त्यक्त्वा कुग्राहिणां ग्रहम्।
क्रियतां भो: ! सुधर्मस्य करणायोद्यम: सदा ॥४२॥

अर्थ - हे भव्य जीवो ! इसलिए सत्त्व का अवलम्बन लेकर, कदाग्रहियों के आग्रह को छोड़कर श्रेष्ठ धर्मकार्य में उद्यम करो॥४२॥

भावार्थ - प्रकरण का समापन करते हुए ग्रन्थकार परामर्श दे रहे हैं कि भव्य जीव को सभी दुराग्रहों का परित्याग कर स्व सत्त्व का अवलम्बन लेकर श्रेष्ठ धर्म की साधना में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इतिश्रीयोगसारे सत्त्वोपदेशकप्रस्तावश्चतुर्थ:।

इस प्रकार **श्रीयोगसार** ग्रन्थ में सत्त्व के उपदेश वाला चतुर्थ प्रस्ताव पूर्ण हुआ॥४॥

卐 卐 卐

पंचमः प्रस्तावः भावशुद्धिजनकोपदेशकः

तत्त्वधर्मान्वेषी मुनि सदैव अपने कार्यकलाप में सजग रहता है

कायेन मनसा वाचा यत् कर्म कुरुते यदा।
सावधानस्तदा तत्त्वधर्मान्वेषी मुनिर्भवेत् ॥१॥

अर्थ - तत्त्वधर्मान्वेषी मुनि जब-जब मन से, वचन से और काया से जो कुछ भी कार्य करता है उस समय वह पूर्ण सावधान, सजग रहता है॥१॥

भावार्थ - तत्त्व और धर्म का अन्वेषण करने वाला मुनि प्रमादी नहीं होता। उसकी मन-वचन-काय की सभी क्रियाएँ उपयोगपूर्वक होती हैं यानी वह इनमें पूर्ण सावधानी रखता है ताकि इनकी प्रवृत्ति अशुभ क्रियाओं में न हो।

मुनि मन को स्थिर करे

इष्टानिष्टेषु भावेषु सदा व्यग्रं मनो मुनिः।
सम्यङ् निश्चयतत्त्वज्ञः स्थिरीकुर्वीत सात्त्विकः ॥२॥

अर्थ - निश्चय से तत्त्वज्ञ और सात्त्विक मुनि इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में हमेशा व्यग्र रहने वाले मन को सम्यक् प्रकार से स्थिर करे॥२॥

भावार्थ - मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है अतः मुनि को अपने मन को स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि यही इन्द्रियों का नायक है और प्रेरक है। योगीन्द्र देव कहते हैं-

पंचहि णायक वस करहु जेम होइ वसु अण्णु।
मूल विणट्ठहि तरुवरहि अवसहि सुक्कइ पण्णु॥

पंचेन्द्रियों के नायक मन को अपने वश में करो जिससे अन्य इन्द्रियाँ स्वतः वशीभूत हो जाएंगी। वृक्ष की जड़ के विनष्ट होने पर उसके पत्ते अवश्य सूख जाते हैं।

मन चंचल है। वह इष्ट-अनिष्ट भावों में सदा व्यग्र बना रहता है। तत्त्व को जानने वाला, सात्त्विक वृत्ति वाला मुनि मन को भली प्रकार से स्थिर करने का प्रयास करता है।

जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है, दूसरा कोई कर्त्ता-हर्त्ता नहीं

अशुभं वा शुभं वापि स्वस्वकर्मफलोदयम्॥
भुञ्जानानां हि जीवानां हर्त्ता कर्त्ता न कश्चन॥३॥

अर्थ - जीव अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल को भोगते हैं, दूसरा कोई उनका कर्त्ता, हर्त्ता नहीं है॥३॥

भावार्थ - आत्मा स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है-

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।"

कोई ईश्वर या कोई अन्य शक्ति जीव को सुख या दुःख नहीं देती-

अपने उपार्जित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
पहले समय में आत्मा ने कर्म हैं जैसे किये,
वैसे शुभाशुभ फल यहाँ पर इस समय उसने लिये।

मन और इन्द्रियों के मृतप्राय होने पर सुख का काल पकता है

मृतप्रायं यदा चित्तं मृतप्रायं यदा वपुः।
मृतप्रायं यदाऽक्षाणां वृन्दं पक्वं तदा सुखम्॥४॥

अर्थ - जब चित्त, शरीर और इन्द्रियों का समूह मृतप्राय (मृत सदृश निष्क्रिय, निरुत्साह) हो जाए तभी सुख की परिणति का काल समझना चाहिए॥४॥

भावार्थ - जब तक इन्द्रियाँ और मन उद्दण्ड और उग्र रहते हैं तब तक आत्मा में रुचि नहीं होती। विषयों में आसक्ति के कारण दुःख ही मिलता रहता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जब साधक की दृष्टि पर से हटकर आत्मा

में लग जाती है तब वह स्वयं इन्द्रियविषयों से विरक्त हो जाता है। मन को वश में कर लेने के बाद इन्द्रियों की उग्रता शिथिल पड़ जाती है-

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥

मन में जो बात अपना हित करने वाली जम जाती है, आत्मा की लगन उसी ओर लग जाती है। आत्मा की समझ में जब अपना शुद्धस्वरूप रुचिकर बन जाता है तब उसे इन्द्रियों के भोग नीरस, निस्सार और बुरे प्रतीत होने लगते हैं।

अज्ञानचेष्टायें निन्द्य हैं

आजन्माज्ञानचेष्टाः स्वा निन्द्यास्ताः प्राकृतैरपि।
विचिन्त्य मूढ ! वैदग्ध्यगर्वं कुर्वन्न लज्जसे॥५॥

अर्थ - जन्म से लेकर आज तक तूने जो अज्ञानभरी चेष्टायें की हैं वे सामान्य जन द्वारा भी निन्दनीय हैं तो फिर हे मूर्ख ! विचार कर, तुझे अपने पण्डितपने का गर्व करते लज्जा क्यों नहीं आती ?॥५॥

भावार्थ - अनादि काल से इस जीव ने मोह रूपी मदिरा पीने के कारण अपने स्वरूप की विस्मृति की है। फलस्वरूप उसका संसार परिभ्रमण चल रहा है। दैवयोग से मनुष्य पर्याय मिली है आज, अब यदि इसमें विवेकपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करेगा तो यह भी नष्ट हो जाएगी। इस मनुष्य ने इस पर्याय में जन्म से ही आज तक अज्ञान-परिपूर्ण चेष्टायें की हैं जिनकी निन्दा सामान्य जन तक करता है। अतः ग्रन्थकार उसे धिक्कारते हुए कहते हैं कि आजन्म अज्ञान चेष्टाओं में संलग्न रहने वाला तू अपनी विद्वत्ता का गर्व करते हुए लज्जा का अनुभव क्यों नहीं करता ? तू किस बात का गर्व कर रहा है ? अर्थात् अज्ञानी को अब तक कृत अपनी सम्पूर्ण अज्ञान चेष्टाओं के लिए लज्जा का अनुभव कर समीचीन ज्ञानपूर्वक मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मन, वचन और काय का निरोध अपेक्षित है

निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यानं निरुन्ध्यादयतं वचः।
निरुन्ध्यात् कायचापल्यं तत्त्वतल्लीनमानसः ॥६॥

अर्थ - तत्त्व में तल्लीन हुए पुरुष को मन के दुर्ध्यान, वाणी के असंयम और शरीर की चञ्चलता का निरोध करना चाहिए॥६॥

भावार्थ - प्रयोजनभूत तत्त्वों में रुचिपूर्वक तल्लीन हुए साधक को अपने मन-वचन और काय की अशुभ चेष्टाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए। यह शरीर और इसकी शक्तियाँ धर्मसाधना के साधन हैं, साध्य नहीं। इन्हें साधनों जितना ही महत्त्व देना चाहिए, साध्य के गौरव के ये अधिकारी नहीं हैं। अतः मन के दुर्ध्यान, वाणी के असंयम और शरीर व इन्द्रियों की चंचलता का निरोध करना चाहिए ताकि ये धर्मसाधना में उपद्रव न कर सकें।

संयम, एकान्तवास और मौन से चित्त को स्थिर करो

दिनातिवाहिकां कष्टां दृष्ट्वा बन्धादिदुःखिनाम्।
रुद्धमेकान्तमौनाभ्यां तपंश्चित्तं स्थिरीकुरु ॥७॥

अर्थ - हे भव्य ! बन्ध आदि के कष्टों में पड़े हुए कैदियों की जैसे-तैसे समय बिताने वाली कष्टपूर्ण दशा को देख कर, तपश्चर्या, एकान्तवास और मौन से मन को वश में करके स्थिर कर॥७॥

भावार्थ - ग्रन्थकार संसारी मनुष्य को उद्बोधन देते हुए कह रहे हैं कि हे भव्य ! जैसे कैद में पड़े हुए व्यक्ति बन्धन आदि के अनेक कष्ट भोगते हुए जैसे-तैसे जीवन यापन करते हैं, उसी तरह तू भी संसार की कैद में पड़ा हुआ कष्टों को भोग रहा है। यदि बन्धनों से छूटकर मुक्ति का सुख पाना चाहता है तो तपश्चरण, एकान्तवास और मौनाभ्यास से अपने चंचल चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न कर। संयम, एकान्तवास और मौन ये चित्त को स्थिर करने में सहायक हैं, साधन हैं। तत्त्वरुचिसम्पन्न साधक यदि

विवेकपूर्वक इनका अभ्यास करे तो चित्त की चंचलता दूर हो सकती है तब आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥

जिस पुरुष का मन रूपी जल राग, द्वेष, मोह, मद, क्रोध, लोभ, माया आदि की लहरों से चंचल नहीं है, वह मनुष्य अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में देख लेता है, अन्य मनुष्य ऐसा नहीं कर पाते।

मुनि को मधुर कोमल वचन बोलने चाहिए

मुनिना मसृणं शान्तं प्राञ्जलं मधुरं मृदु।
वदता तापलेशोऽपि त्याज्यः स्वस्य परस्य च॥८॥

अर्थ - मुनि को ऐसे स्निग्ध, शान्त, सरल, मधुर और कोमल वचन बोलने चाहिए कि जिससे स्वयं को भी और सुनने वाले अन्य को भी किसी प्रकार की जरा सी भी पीड़ा न हो॥८॥

भावार्थ - पूर्व श्लोक में चित्त को स्थिर करने का परामर्श दिया गया है और इस श्लोक में वाणी को हित, मित, प्रिय, संयमित और मृदु रखने हेतु कहा गया है। साधक को साधना में चित्त और वाणी को संयमित रखना चाहिए। इनकी स्वच्छन्दवृत्ति उसे अपने लक्ष्य से भटका सकती है।

कोमल परन्तु बोधगम्य वाणी बोलनी चाहिए

कोमलापि सुसाम्यापि वाणी भवति कर्कशा।
अप्राञ्जलाऽस्फुटात्यर्थं विदग्धा चर्विताक्षरा॥९॥

अर्थ - कितने ही वचन कोमल और प्रशान्त होते हुए भी अस्पष्ट, अर्थहीन, क्लिष्ट और चबा-चबाकर बोले गये होने से कर्कश होते हैं (अतः इनका त्याग करना चाहिए)॥९॥

भावार्थ - ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि वाणी केवल सुनने में ही मधुर नहीं हो अपितु अर्थबोध भी आसानी से कराने वाली हो; अस्पष्ट, क्लिष्ट, पाण्डित्यपूर्ण और चबा-चबाकर उच्चरित वाणी सरलता से समझ में नहीं आती, अत: ऐसी वाणी भी नहीं बोलनी चाहिए। बोलने का उद्देश्य ही यही है कि दूसरा (श्रोता) वक्ता का अभिप्राय समझ जाय और यदि यही उद्देश्य बाधित होता है तो फिर वाणी कितनी ही कोमल क्यों न हो अप्रयोजनीय होगी। अत: वक्ता को इन दोनों गुणों-सुनने में मधुर और सरलता से बोधगम्य- से युक्त वाणी बोलनी चाहिए।

औचित्य के ज्ञाता और सबका प्रिय करने वाले मनुष्य विरले हैं

औचित्यं ये विजानन्ति सर्वकार्येषु सिद्धिदम्।
सर्वप्रियंकरा ये च ते नरा विरला जने॥१०॥

अर्थ - सभी कार्यों में सिद्धि देने वाले औचित्य को जो जानते हैं और जो सबका प्रिय करते हैं ऐसे मनुष्य इस जगत् में विरले ही हैं॥१०॥

भावार्थ - सामान्यत: लोक ऐसे मनुष्यों से भरा हुआ है जो मात्र अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और अपना काम सफलतापूर्वक निपटाते हैं। उन्हें दूसरों के कामों से और दूसरों से कोई प्रयोजन नहीं, पर वे यह भी चाहते हैं कि दूसरों के काम बिगड़ें अत: वे उसमें रोड़ा अटकाते हैं, बाधा डालते हैं और काम को सिद्धि-सफलता तक नहीं पहुँचने देते, वे मात्र अपना भला चाहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसे उदार हृदय लोग विरले ही होते हैं जो सबका भला चाहते हैं, सबका प्रिय करते हैं, अपने और दूसरे के भी सभी कामों को पार पहुँचाने की भावना रखते हैं और उसके औचित्य को भली प्रकार समझते हैं तथा तदनुसार करते भी हैं।

औचित्य ही धर्म का मूल है

औचित्यं परमो बन्धुरौचित्यं परमं सुखम्।
धर्मादिमूलमौचित्यमौचित्यं जनमान्यता॥११॥

अर्थ - औचित्य (उचितता का भाव) ही परम बन्धु है, औचित्य ही परम सुख है, औचित्य ही धर्मादि का मूल है और जगत् में मान्यता दिलाने वाला भी औचित्य ही है ॥११॥

भावार्थ - उचित का भाव औचित्य है। उचित यानी समीचीन, योग्य, मुनासिब, वाजिब, ठीक, लायक। अर्थात् वस्तु, तत्त्व, पदार्थ, व्यक्ति जैसा है उसके स्वरूप को ठीक-ठीक वैसा ही समझना, उसमें अपनी ओर से हीनाधिकता नहीं करनी। यही औचित्य तत्त्व है। ऐसा औचित्य धर्म का मूल है, इसके बिना धर्म का वृक्ष खड़ा ही नहीं हो सकता, उचित को माने-जाने बिना यद्वा-तद्वा धर्म के स्वरूप को जानने से भ्रान्ति पैदा होती है, विकार उत्पन्न होता है अत: वस्तु स्वरूप को समीचीन रूप से हृदयंगत कर औचित्यपूर्ण व्यवहार से ही कार्यों की सिद्धि हो सकती है, अनुचित रीति से नहीं। लोक में मान्यता दिलाने वाला औचित्य तत्त्व ही है, उचित करने वाले, उचित का पक्ष लेने वाले और उचित को प्रोत्साहित करने वाले व्यक्ति को ही लोक में मान्यता, प्रतिष्ठा मिलती है- स्वैराचारी को नहीं। मन, वचन, काय की सभी चेष्टायें औचित्यपूर्ण होने पर ही संसार-यात्रा सुकर होती है। वाणी भी औचित्यपूर्ण ही बोलनी चाहिए। अनुचित वाणी, अनुचित भाषा कार्य की साधक नहीं अपितु उसे बिगाड़ने वाली सिद्ध होती है। अत: वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ कर तदनुरूप औचित्य पूर्ण भाषा-प्रयोग ही कार्यसिद्धि में समर्थ सिद्ध होता है। साधक की मन, वचन, काय सभी की चेष्टायें औचित्यपूर्ण होनी चाहिए।

दृढ़ कर्मबंध कराने वाली चेष्टायें नहीं करनी चाहिए

कर्मबन्धदृढश्लेषं सर्वस्याप्रीतिकं सदा।
धर्मार्थिना न कर्त्तव्यं धीरेण जटिना यथा ॥१२॥

अर्थ - धीर जटाधारी की भाँति धर्मार्थी पुरुष को कर्म का दृढ़ बन्ध कराने वाले और सभी को अप्रीति उत्पन्न कराने वाले कार्य नहीं करने चाहिए॥१२॥

भावार्थ - लोकभीरु, कर्मभीरु साधक को अपने मन, वचन और काय की ऐसी कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिए जो सबको अप्रीति उत्पन्न कराने वाली हो और कर्मों का दृढ़ संश्लेष-सम्बन्ध कराने वाली हो।

भवभीरु साधक को अपने योगों को संभाल कर रखना चाहिए क्योंकि इन्हीं से कर्मास्रव होता है-

कायवाङ्मनः कर्मयोगः। स आस्रवः।

उसे अपने योगों का उपयोग कम-से-कम ऐसे कामों के लिए तो नहीं ही करना चाहिए जिनसे दृढ़ कर्मबन्ध होता हो।

सुधर्म का बीज सदाचार है

बीजभूतं सुधर्मस्य सदाचारप्रवर्तनम्।
सदाचारं विना स्वैरिण्युपवासनिभो हि सः॥१३॥

अर्थ - सुधर्म का बीज सदाचार है अतः सदाचारपूर्ण प्रवृत्ति करनी चाहिए। सदाचार बिना का धर्म व्यभिचारिणी स्त्रीकृत उपवास की भाँति (निष्फल) ही रहता है॥१३॥

भावार्थ - मन, वचन और काय की शुभ और शुद्ध प्रवृत्ति सदाचार कहलाती है। इनकी अशुभ प्रवृत्ति कदाचार है, दुराचार है या फिर अत्याचार है। धर्म आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का स्वभाव ऋजुता है, सरलता है, कुटिलता नहीं। मन, वचन, काय की कुटिलता पूर्वक की गई धार्मिक क्रियायें निष्फल होती हैं यानी संसार कम करने के बजाय संसार को बढ़ाने वाली ही होती हैं। सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक किया गया आचरण सदाचार है जो मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कराता है। इसके विपरीत अज्ञानता के वशीभूत किया गया दुष्टाचरण संसार-परिभ्रमण में वृद्धि करता है।

सदाचार ही मूर्त धर्म है

मूर्त्तो धर्मः सदाचारः सदाचारोऽक्षयो निधिः।
दृढं धैर्यं सदाचारः, सदाचारः परं यशः॥१४॥

अर्थ - सदाचार ही मूर्तिमान धर्म है, सदाचार ही अक्षय निधि-अटूट कोष है, सदाचार ही दृढ़ धीरता है और सदाचार ही उज्ज्वल यश-कीर्ति के विस्तार में कारण है॥१४॥

भावार्थ - सदाचार की महिमा अद्भुत है। यदि धर्म की कोई मूर्ति बनाई जावे तो वह सदाचार/सदाचारी की मूर्ति ही होगी। सदाचार कभी न समाप्त होने वाला भण्डार है जिससे व्यक्ति की सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी कमी नहीं आती, सदाचार ही दृढ़ धीरता में निमित्त कारण है और सदाचार ही यश का विस्तार करने वाला एक मात्र तत्त्व है। लोक में वही ख्यातनाम होता है जो सदाचारी है, दुराचारी तो बदनाम होता है। अतः मुक्ति के मार्ग पर बढ़ने वाले साधक को सम्यक् आचरण करना अपेक्षित है। उसे विषय कषायों का परित्याग करने का उद्यम करना चाहिए।

अप्रमत्त मुनि को लोभ का उन्मूलन करना चाहिए

लोभमुन्मूलयन् मूलादप्रमत्तो मुनिः सदा।
क्षायोपशमिके भावे स्थितोऽनुत्सुकतां व्रजेत्॥१५॥

अर्थ - क्षायोपशमिक भाव में स्थित अप्रमत्त मुनि को मूल से लोभ का नाश कर चंचलता को छोड़ देना चाहिए॥१५॥

भावार्थ - आत्मस्वरूप के प्रति निरन्तर सजग रहने वाला मुनि अप्रमत्त होता है। कर्मों के एकदेश क्षय (आंशिक क्षय) तथा एकदेश (आंशिक) उपशम होने को **क्षयोपशम** कहते हैं। यद्यपि यहाँ कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुण को घातने में समर्थ नहीं होता। पूर्ण शक्ति के साथ उदय में न आकर, शक्ति क्षीण होकर उदय में आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है और सत्तावाले सर्वघाती कर्मों का अकस्मात् उदय में न आना ही उनका सदवस्थारूप उपशम है। यद्यपि क्षीणशक्ति या देशघाती कर्मों का उदय प्राप्त होने की अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी कहा जा सकता है परन्तु गुण के प्रकट होने वाले अंश की अपेक्षा क्षायोपशमिक

भाव ही कहते हैं, औदयिक नहीं, क्योंकि कर्मों का उदय गुण का घातक है, साधक नहीं।

ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि आत्मोन्मुख अप्रमादी मुनि को क्षायोपशिमक भाव में स्थित होकर लोभकषाय को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए और चित्त में उत्पन्न होने वाली उत्कण्ठा का परित्याग करना चाहिए।

लोभ को पाप का बाप बताया गया है। इसके रहने पर सभी कषायें और सभी पाप उभरे हुए रहते हैं। इसके अभाव में उनका शमन और दमन हो जाता है। अत: ग्रन्थकार लोभ को जड़ से उखाड़ फेंकने की सीख दे रहे हैं।

लोभ संसार और कषायों का मूल है

संसारसरणिर्लोभो लोभः शिवपथाचलः।
सर्व दुःखखनिर्लोभो लोभो व्यसनमन्दिरम् ॥१६॥

शोकादीनां महाकन्दो लोभः क्रोधानलानिलः।
मायावल्लिसुधाकुल्या मानमत्तेभवारुणी ॥१७॥ युग्मम्

अर्थ - लोभ संसार का मार्ग है, लोभ मोक्षमार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाला पहाड़ है, लोभ सब दु:खों की खान है, लोभ सभी कष्टों का स्थान है, लोभ शोकादिक का मूल है, लोभ क्रोध रूपी अग्नि के लिए पवन तुल्य है, लोभ माया रूपी लता के लिए अमृत की नदी है तथा मान रूप मदोन्मत्त हाथी के लिए मदिरा के समान है॥१६-१७॥

भावार्थ - 'लोभो मूलमनर्थानां' लोभ सभी अनर्थों का मूल है। क्रोध, मान और माया इन तीनों कषायों को जीवन्त रखने वाला लोभ ही है। मोक्षमार्ग में पहाड़ के समान सबसे बड़ी बाधा है, संसार में भटकाने वाला है। लोभ सभी अनर्थों की जड़ है, शोकादिक का कारण है, कष्टों का स्थान है। यदि एक लोभ कषाय छूट जाय या मिट जाय तो क्रोध, मान, माया भी अपनी राह पकड़ लें अर्थात् फिर उन्हें संभालने में देर नहीं

लगती। लोभ ही इन कषायों को प्रज्वलित रखता है, प्रेरित करता है और पुष्ट करता है।

लोभी व्यक्ति क्या-क्या अनर्थ नहीं करता- वह इसके कारण पंच पापों में लिप्त होता है, फलस्वरूप उसे कष्ट भोगने पड़ते हैं, उसका जीवन दु:खों की खान बन जाता है, उसका संसार-परिभ्रमण बढ़ जाता है।

लोभ से दोष उत्पन्न होते हैं, उसके वर्जन से गुण

त्रिलोक्यामपि ये दोषास्ते सर्वे लोभसम्भवा:।
गुणास्तथैव ये केऽपि ते सर्वे लोभवर्जनात्॥१८॥

अर्थ - सम्पूर्ण जगत् में जितने भी दोष हैं, उन सबकी उत्पत्ति लोभ से होती है और जितने भी गुण हैं वे सब लोभ के त्याग से ही उत्पन्न होते हैं॥१८॥

भावार्थ - सभी पापपूर्ण प्रवृत्तियों में और बुराइयों में लोभ ही कारण है। 'लोभ पाप का बाप बखाना' अत: लोभ कषाय सर्वथा त्याज्य है। लोभ कषाय छूटने के बाद ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास होता है। जितने भी गुण हैं वे सब लोभ की वर्जना करने के बाद ही उत्पन्न होते हैं और टिकते हैं।

निजस्वरूप में जमने के लिए पर से अपेक्षा का त्याग अपेक्षित है

नैरपेक्ष्यादनौत्सुक्यमनौत्सुक्याच्च सुस्थता।
सुस्थता च परानन्दस्तदपेक्षां क्षयेद् मुनि:॥१९॥

अर्थ - निरपेक्षता (किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं करने) से अनौत्सुक्य (उत्कण्ठाहीनता) प्रकट होता है, अनौत्सुक्य से सुस्थता प्रकट होती है, यह सुस्थता ही परम आनन्द है अत: मुनि को अपेक्षा वृत्ति का क्षय करना चाहिए॥१९॥

भावार्थ - मुनि को अपने मुनिधर्म के निर्वाह के लिए पर से अपेक्षा या पर की अपेक्षा बुद्धि का परित्याग करना चाहिए क्योंकि दूसरों से अपेक्षा

रखने वाला अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाता है, पराश्रय साधक को कमजोर बनाता है, याचनावृत्ति उसे दीन बनाती है और अस्थिर कर देती है। अत: अपेक्षावृत्ति का परित्याग अपेक्षित है। इसके अभाव में-अपेक्षा के अभाव में चंचलता का नाश होता है, चित्त की भटकन रुकती है, स्थिरता आती है- निज में ठहरने का भाव बनता है, निज में स्थिति-आत्मरमणता ही परम आनन्द है। इस परम आनन्द की उपलब्धि के लिए साधक को सभी प्रकार की अपेक्षाओं का क्षय करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

कुटिलता अधर्म है, ऋजुता धर्म है

अधर्मो जिह्मता यावद् धर्म: स्याद् यावदार्जवम्।
अधर्मधर्मयोरेतद् द्वयमादिमकारणम्॥२०॥

अर्थ - जब तक वक्रता है तब तक अधर्म है, जब तक ऋजुता है, सरलता है, आर्जव भाव है तब तक धर्म है। अधर्म और धर्म के ये दो-कुटिलता और ऋजुता मुख्य कारण हैं॥२०॥

भावार्थ - धर्म की परिभाषा है- **'वत्थु सहावो धम्मो'**। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। आत्मा का स्वभाव सरलता है, ऋजुता है, आर्जव है, कुटिलता वक्रता या तिर्यक्पन नहीं। स्वभाव सहज होता है, अनायास होता है, उसमें ठहरने हेतु श्रम नहीं करना पड़ता जबकि विभावदशा पर के निमित्त से होती है, सायास होती है। कुटिलता या वक्रता आत्मा का स्वभाव नहीं है अत: यह उसका धर्म भी नहीं है, अधर्म है। जब तक कुटिलता का नाश नहीं होगा, आत्मा में आर्जव धर्म का प्रादुर्भाव नहीं होगा। अत: साधक को मन, वचन, काय की वक्रता से बच कर 'करिए सरल तिहुँ जोग अपने'। मन-वचन और काय की एकरूपता श्रेष्ठता का लक्षण है- इसी से आत्मा में 'धर्म' का प्रकटीकरण होता है जबकि 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनां' मन-वचन-कर्म की भिन्नता दुरात्मा का लक्षण है। कुटिलता अधर्म है और ऋजुता धर्म है- ये अधर्म और धर्म

मूलभूत, आधारभूत कारण हैं। अतः कुटिलता, वक्रता का परित्याग कर सरलता, सहजता, ऋजुता को अपनाना चाहिए।

ऋजुता, नम्रता, संयम और मैत्री ही सुख है

सुखमार्जवशीलत्वं सुखं नीचैश्च वर्तनम्।
सुखमिन्द्रियसन्तोषः सुखं सर्वत्र मैत्र्यकम् ॥२१॥

अर्थ - सरलता और शीलपना, नम्र व्यवहार, इन्द्रियों का सन्तोष और सभी जीवों से मैत्री-ये ही सब सुख के कारण हैं, सुख हैं॥२१॥

भावार्थ - स्वभाव सुख है और परभाव या विभाव दुःख है। आत्मा का स्वभाव ऋजुता विनम्रता, मैत्री और इन्द्रियों का सन्तोष यानी संयम है। इन गुणों से ही सुख की अनुभूति होती है।

निर्मलचित्त कूरगडुक

सन्तुष्टं सरलं सौम्यं नम्रं तं कूरगड्डुकम्।
ध्यायन् मुनिं सदा चित्ते को न स्याच्चन्द्रनिर्मलः ? ॥२२॥

अर्थ - सन्तोषी, सरल, सौम्य, नम्र ऐसे कूरगड्डुक मुनि का मन में ध्यान करने से कौन पुरुष चन्द्रमा जैसा निर्मल नहीं होगा ? यानी अवश्य होगा।

भावार्थ - जैसा हम सोचते हैं वैसा ही हो जाते हैं। (What you think you become) कूरगडुक मुनि के सौम्य व्यक्तित्व का ध्यान करने से निश्चय ही ध्याता का चित्त भी निर्मल होता है।

तपस्वी शालिभद्र

सुकुमारसुरूपेण शालिभद्रेण भोगिना।
तथा तप्तं तपो ध्यायन् न भवेत् कस्तपोरतः ॥२३॥

अर्थ - सुकुमार, सुन्दर और ऐश्वर्यसम्पन्न (भोगी) शालिभद्र ने जो दुष्कर तप किया, उसका ध्यान करने से कौन तपस्या में लीन नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

भावार्थ - सुन्दर और मोहक शरीर को धारण करने वाले और पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगने वाले ऐश्वर्यशाली शालिभद्र सेठ ने संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर जिस प्रकार का दुर्धर तप किया, उन सबका ध्यान करने से तपश्चर्या को अंगीकार करने की प्रेरणा मिलती है। निश्चित ही ये आदर्श महापुरुष हमें उनका अनुकरण करने को प्रेरित करते हैं।

विषयों में आसक्त को चेतावनी

किं न चेतयसे मूढ ! मृत्युकालेऽप्युपस्थिते।
विषयेषु मनो यत् ते धावत्येव निरङ्कुशम् ? ॥२४॥

अर्थ - हे मूर्ख ! मृत्युकाल के उपस्थित होने पर भी तेरा मन निरंकुश रीति से विषयों की तरफ दौड़ रहा है, तू सावधान क्यों नहीं होता ? ॥२४॥

भावार्थ - पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त असंयमी मनुष्य मृत्यु तक सावधान नहीं होता कि उसका जीवन यों ही निष्फल जा रहा है। संसारी प्राणी एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर अपने प्राण गँवा बैठते हैं- फिर इस मूढ़ मनुष्य के तो पाँचों इन्द्रियाँ हैं। इनके विषयों में रमण करता हुआ यह अपना आयुष्य यों ही पूरा कर देता है। तुलसीदास जी कहते हैं-

अलि पतंग गज मीन मृग जरत एक ही आँच।
तुलसी वे कैसे बचें जिन कहँ व्यापत पाँच॥

मनुष्य पर्याय विवेकपूर्वक संयम ग्रहण करने के लिए मिली है पर अज्ञानी मूढ़ मानव इस बात को नहीं समझ कर अपनी हीरा सदृश बहुमूल्य मानव पर्याय को यों ही नष्ट कर देता है।

शेष आयु में संभलने का संकेत

जीविते गतशेषेऽपि विषयेच्छां वियोज्य ते।
चेत् तपः प्रगुणं चेतस्ततः किञ्चिद् न हारितम् ॥२५॥

अर्थ - आयु थोड़ी रहने पर भी यदि तेरा मन विषयों की इच्छा

को त्याग कर तपश्चर्या हेतु तैयार हो जाय तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है॥२५॥

भावार्थ - ग्रन्थकार मूढ़ात्मा को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि जो आयु चली गई, उसकी चिन्ता मत कर, जो कुछ शेष है उसमें भी यदि तू विषयों की इच्छा को रोककर तपश्चर्या में प्रवृत्त हो तो भी कल्याण का पात्र बन सकता है। लोक में कहावत है- 'जब जागो तभी सवेरा'। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिए जब जागृति आए तभी से नवजीवन का शुभारम्भ हो सकता है- "बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेह।"

चित्त को धर्म में स्थिर कर

कूटजन्मावतारं स्वं पापोपायैश्च संकुलम्।
व्यर्थं नीत्वा बताद्यापि धर्मे चित्तं स्थिरीकुरु॥२६॥

अर्थ - कूट-कपट और पाप के अन्य उपायों में सम्पूर्ण जन्म को निरर्थक व्यतीत किया, अब तो धर्म में चित्त को स्थिर कर॥२६॥

भावार्थ - संसारी मूढ़ प्राणी अपनी अज्ञानदशा में अपना सम्पूर्ण जीवन छल, कपट और पापार्जन की अन्य विधियों में तल्लीनता पूर्वक व्यतीत कर देता है, इस प्रकार इस उत्तम मनुष्य पर्याय को यों ही नष्ट करता है और आगे भी इनके कारण अधोगति में जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि अपने अतीत को भूलकर अब तो तू अपने चित्त को धर्म में स्थिर कर, अपना मार्ग बदल।

व्रत धारण करने का निर्देश

अनन्तान् पुद्गलावर्त्तानात्मन्नेकेन्द्रियादिषु।
भ्रान्तोऽसि च्छेदभेदादिवेदनाभिरभिद्रुतः॥२७॥

साम्प्रतं तु दृढीभूय सर्वदुःखदवानलम्।
व्रतदुःखं कियत्कालं, सह मा मा विषीद भोः॥२८॥ युग्मम्

अर्थ - हे आत्मन् ! तू एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में अनन्त पुद्गल-परावर्त काल तक अनेक प्रकार की छेदन-भेदन आदि की वेदनाएँ सहन कर भ्रान्त हुआ है। लेकिन अब तू दृढ़ होकर बिना खेद के कुछ समय व्रत (यम-नियम) के कष्ट सहन कर, जिससे तेरे सभी प्रकार के दुःख भस्म हो जाँय।

भावार्थ - **'इच्छानिरोधस्तपः।'** इच्छाओं का निरोध ही बड़ा तप है। इस जीव ने एकेन्द्रियादि पर्यायों में अनगिनत कष्ट सहे हैं और अनादिकाल से आज तक सह रहा है। आचार्य कह रहे हैं कि हे आत्मन् ! जितने काल तक तूने ये कष्ट सहे हैं उससे भी बहुत थोड़े काल के लिए जो तू व्रतों का कष्ट सहन कर ले तो सदा-सदा के लिए सर्वदुःखों से मुक्त होकर अक्षय आनन्द में जा विराजे। आचार्य आश्वस्त कर रहे हैं कि तू खेद मत कर और दृढ़ होकर व्रतधारण में प्रवृत्ति कर जिससे तपश्चर्या की अग्नि में सर्वदुःख जल जाँय।

आत्मा को स्वहित में लगाना दुष्कर है

उपदेशादिना किञ्चित् कथंचित् कार्यते परः।
स्वात्मा तु स्वहिते योक्तुं मुनीन्द्रैरपि दुष्करः ॥२९॥

अर्थ - अन्य जीव को उपदेशादि के माध्यम से किसी रीति से थोड़े बहुत अंश में धर्मकार्य में संलग्न कर सकते हैं परन्तु अपनी आत्मा को आत्महित के कार्यों में जोड़ना मुनीन्द्रों के लिए भी दुष्कर है यानी आसान नहीं है॥२९॥

भावार्थ - मुनिराज उपदेशादि के माध्यम से श्रोतावर्ग को यत्किंचित् रूप से धर्मकार्यों में संलग्न कर सकते हैं, परन्तु उनके लिए स्वयं अपनी आत्मा को आत्महितैषी कार्यों में जोड़ पाना बड़ा मुश्किल काम है। मुनियों के लिए भी जब यह दुष्कर है तो सामान्य बुद्धि वालों की तो इस सम्बन्ध में क्या चर्चा करें। उपदेश द्वारा दूसरे में तो परिवर्तन लाया जा सकता है पर स्वयं मुनि के लिए भी आत्महितैषी कार्यों में जुड़पाना कठिन काम है।

विषयसुख दुःखरूप है और व्रतादि के कष्ट सुखरूप हैं

यदा दुःखं सुखत्वेन, दुःखत्वेन सुखं यदा।
मुनिर्वेत्ति तदा तस्य, मोक्षलक्ष्मीः स्वयंवरा ॥३०॥

अर्थ - जब मुनि (विषयादि) सुख से दुःख और (व्रतादिक के) दुःख से सुख माने तब मोक्ष रूपी लक्ष्मी उसके लिए स्वयंवरा सिद्ध होती है अर्थात् ऐसे मुनि को मोक्षलक्ष्मी शीघ्र प्राप्त होती है॥३०॥

भावार्थ - आत्मा का अहित करने वाले विषय-कषाय हैं। जिनसे देह का उपकार होता है ऐसे विषयों से आत्मा का अपकार होता है और जिससे आत्मा का उपकार होता है ऐसे व्रत-नियम-संयम-तपादि से देह का अपकार होता है। जो मुनि इस तथ्य को भली प्रकार आत्मसात् कर लेता है उसे सांसारिक विषयभोग दुःख रूप भासते हैं और तपादि की साधना सुख रूप प्रतीत होती है-

जो संसारविषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागै ?
काहे को शिवसाधन करते संजम सौं अनुरागै।

विषयादि से प्राप्त होने वाला सुख तत्काल तो अच्छा लगता है परन्तु उसका परिणाम विषम और कटु होता है, जबकि व्रतपालन का कष्ट प्रारम्भ में तो अच्छा नहीं लगता परन्तु उसका परिणाम सुखद होता है।

सुख-दुःख की कल्पना मन की वासना मात्र है

सर्वं वासनया दुःखं सुखं वा परमार्थतः।
म्लायत्यस्त्रेक्षणेऽप्येको हतोऽप्यन्यस्तु तुष्यति ॥३१॥

अर्थ - परमार्थतः दुःख और सुख मन की वासना के सिवाय कुछ नहीं हैं, कारण कि एक मनुष्य शस्त्र देखने मात्र से दुःखी हो जाता है तो दूसरा मनुष्य (युद्धभूमि में) शस्त्र से मारे जाने पर भी खुश होता है॥३१॥

भावार्थ - पदार्थ अपने आपमें अच्छा या बुरा नहीं है। देखने वाला उसे जिस दृष्टि से देखता है उसे पदार्थ वैसा ही दिखाई देता है। आचार्य

कहते हैं कि सुख और दुःख मन की कल्पना मात्र है। एक ही पदार्थ दो भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, एक को वह सुख देने वाला प्रतीत होता है तो दूसरे को वही पदार्थ दुःखदायक हो जाता है। एक को शस्त्र देखने मात्र से डर लगता है तो दूसरा शस्त्र के प्रहार से मारे जाने पर भी प्रसन्न होता है। यह सब व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण है। अनुकूलता प्रतिकूलता में उसे एक ही पदार्थ कभी अच्छा तो कभी बुरा लगने लगता है जबकि पदार्थ अपने आप में अच्छा-बुरा नहीं है। हमारा मन ही उस पर सुख-दुःख का आरोप मढ़ता है।

तल्लीनता में समय का पता नहीं लगता

सुखमग्नो यथा कोऽपि लीनः प्रेक्षणकादिषु।
गतं कालं न जानाति तथा योगी परेऽक्षरे॥३२॥

अर्थ - जैसे कोई सुखमग्न मनुष्य नाटकादि देखने में लीन हुआ, व्यतीत हुए समय को नहीं जानता है, वैसे ही योगी पुरुष आत्मध्यान में तल्लीन हुआ बीतते समय को नहीं जानता है॥३२॥

भावार्थ - ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे नाटक देखने में तल्लीन हुए प्रेक्षक को व्यतीत हो रहे समय का पता नहीं लगता उसी प्रकार आत्मध्यान में तल्लीन हुए साधक योगी को भी समय का पता नहीं चलता। पहला भौतिक सुख है, इन्द्रियजन्य है। दूसरा आत्मिक सुख है और अनिन्द्य है, निज स्वरूप में अवस्थिति है।

विषयसुख की इच्छा का विलय

मृगमित्रो यदा योगी वनवाससुखे रतः।
तदा विषयशर्मेच्छामृगतृष्णा विलीयते॥३३॥

अर्थ - जैसे योगी पुरुष हरिणादि पशुओं के संसर्ग वाले वनवास में भी सुख मानता है वैसे ही उसकी विषय-सुख की इच्छा रूप मृगतृष्णा नाश को प्राप्त होती है॥३३॥

भावार्थ - ''आतम के अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय।'' आत्मा का सर्वाधिक अहित करने वाले दो कारण हैं- पंचेन्द्रियों सम्बन्धी विषय और चार प्रकार का कषाय। संसार, शरीर और भोगों से उदासीन श्रावक/मुनि विषय-सुख की इच्छा नहीं करता, वह हरिणादि से व्याप्त वन में भी सुखपूर्वक निवास करता है और आत्मिक सुख को उपलब्ध होता है। पूज्यपाद आचार्य कहते हैं-

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥

योगी का सुख चक्रवर्ती को भी नहीं

वने शान्तः सुखासीनो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
प्राप्नोति यत् सुखं योगी सार्वभौमोऽपि तत् कुतः? ॥३४॥

अर्थ - शान्त, सुस्थ, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह योगी वन में जैसा सुख प्राप्त करता है वैसा सुख चक्रवर्ती राजा को भी कहाँ मिलता है॥३४॥

भावार्थ - ग्रन्थकार पहले कह चुके हैं कि सुख और दुःख की कल्पना मन की वासना है। संसार, शरीर और भोगों से उदासीन योगी शान्त, सुस्थ, द्वन्द्व और परिग्रह से रहित होकर वन में रहते हुए भी जिस आत्मिक सुख की अनुभूति करता है वह सुख छह खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् को भी उपलब्ध नहीं होता क्योंकि सुख पर-पदार्थ में है ही नहीं। सुख आत्मा का स्वभाव है। जो पर से हटकर निज आत्मा में अवस्थिति करता है, उसे ही यह सुख उपलब्ध होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने ऐसे योगी के लिए चार विशेषण दिये हैं- शान्त, सुखासीन, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह। परिग्रह और द्वन्द्व से मुक्त होने पर ही साधक शान्त और सुखासीन हो सकता है, इसे जैसा सुख मिलता है वैसा चक्रवर्ती को नहीं क्योंकि वह परिग्रह और द्वन्द्व से युक्त होता है अतः अशान्त होता है, स्व में उसकी स्थिति नहीं होती, वह पर-चिन्ता में ही व्यस्त हुआ चिन्तालीन रहता है।

जन्मभूत्वात् पुलिन्दानां वनवासे यथा रतिः।
तथा विदिततत्त्वानां यदि स्यात् किमतः परम् ?॥३५॥

अर्थ - जैसे भील वगैरह जंगली असभ्य जातियों को अपनी जन्मभूमि होने के कारण वनवास में रति होती है वैसे ही तत्त्वों के ज्ञाता योगी को यदि वनवास में आनन्द की अनुभूति होवे तो फिर अन्य क्या चाहिए ? कुछ भी नहीं॥३५॥

भावार्थ - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनका समीचीन ज्ञाता निज स्वरूप को भली प्रकार जानता है अतः वह संसार, शरीर और भोगों में आसक्त नहीं होता और अपनी आत्मा में ही रमण करने का पुरुषार्थ करता है। आत्मा में रमण करने से उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसके लिए ग्रन्थकार ने कहा है कि यह वैसी ही अनुभूति कही जा सकती है जैसी भील आदि जातियों को वन में रहने से होती है। जैसे वे वहाँ सहजता की अनुभूति करते हैं, उसी तरह आत्मा में रमण करने वाला योगी वन में रहकर सहज सुख की अनुभूति करता है।

जन्मे मरे अकेला चेतन

एको गर्भे स्थितो जात एक एको विनङ्क्ष्यसि।
तथापि मूढ ! पत्न्यादीन् किं ममत्वेन पश्यसि ?॥३६॥

अर्थ - हे मूढ़ ! तू गर्भ में अकेला ही रहा, अकेला ही जन्मा और मृत्यु को भी अकेला ही प्राप्त होगा, यह जानते हुए भी तू पत्नी आदि को ममत्व भाव से क्यों देखता है ?॥३६॥

भावार्थ - संसार में जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, यह जन्म-मरण का चक्र अनादि से चल रहा है। जब तक जीव इस तथ्य को भली प्रकार न समझ कर पर में- स्त्री, पुत्र, धन, मकान

आदि में ममत्व रखता है तब तक उसका संसार-परिभ्रमण नहीं छूट सकता- इतना ही क्यों, यह शरीर भी जिसमें आत्मा निवास करती है, वह भी पर है-

जल पय ज्यों जिय तन मेला पे भिन्न-भिन्न नहीं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥

अत: ग्रन्थकार ममत्व बुद्धि को छोड़ने का परामर्श दे रहे हैं। जब यह शरीर भी पर है तो प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा भिन्न रहने वाले पदार्थ आत्मा के कैसे हो सकते हैं ? अत: उनमें ममता नहीं करनी चाहिए। जो कोई उनमें ममत्व भाव रखता है, वे मूढ़ हैं, बहिरात्मा हैं।

पाप का फल अकेले को ही भोगना पड़ता है

पापं कृत्वा स्वतो भिन्नं कुटुम्बं पोषितं त्वया।
दु:खं सहिष्यसे स्वेन ! भ्रान्तोऽसि हा महान्तरे ? ॥३७॥

अर्थ - हे जीव ! स्वयं पाप करके, स्वयं से भिन्न कुटुम्ब का पोषण तूने किया। यह तूने गम्भीर भूल की क्योंकि पाप का फल तो तुझे अकेले को ही भोगना पड़ेगा॥३७॥

भावार्थ - जीव को स्वयंकृत पाप-पुण्य का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है, इसमें कोई उसकी सहायता नहीं कर सकता-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।

पहले समय में आत्मा ने कर्म हैं जैसे किये,
वैसे शुभाशुभ फल यहाँ पर इस समय उसने लिये।
अपने उपार्जित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी॥

परिवार-प्रमुख यदि परिवार के सदस्यों का पालन करने के लिए पापार्जन करता है तो उस पाप का फल स्वयं उसे ही भोगना पड़ेगा- अन्य सदस्यों को नहीं।

क्षणभंगुरता

चलं सर्वं क्षणाद् वस्तु दृश्यतेऽथ न दृश्यते।
अजरामरवत् पापं तथापि कुरुषे कथम् ?॥३८॥

अर्थ - प्रत्येक वस्तु चंचल होने से क्षण के बाद दिखाई दे या न दे, ऐसी स्थिति होने पर भी तू अजर-अमर के समान अपने को मान कर पाप क्यों करता है ?॥३८॥

भावार्थ - परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, नाशवान हैं, पर्याय शाश्वत नहीं है। पदार्थ अभी एक रूप में है, क्षणभर में उसमें परिवर्तन दिखाई देता है। जीव की पर्याय भी बदलती रहती है पर वह मूढ़बुद्धि पर्याय में अपने आप को अजर-अमर मान कर पापकर्म करता रहता है। जीव को विचार करना चाहिए कि वह नश्वर, क्षणभंगुर भौतिक पदार्थों के लिए क्यों पापार्जन करता है ? जबकि पाप का फल स्वयं उसे ही भोगना पड़ेगा।

अशुचिमय शरीर

सप्तधातुमये श्लेष्ममूत्राद्यशुचिपूरिते।
शरीरकेऽपि पापाय कोऽयं शौचाग्रहस्तव ?॥३९॥

अर्थ - सात धातुओं और श्लेष्म, मूत्र वगैरह अशुचि पदार्थों से भरे हुए इस शरीर में तुझे पवित्रता का आग्रह क्यों है कि इसके लिए तू पाप पूर्ण प्रवृत्ति करता है॥३९॥

भावार्थ - रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं तथा श्लेष्म, मूत्र, मल, खखार, कान का मैल, नाक का मैल, आँख का मैल, पसीना आदि अशुचि-अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण यह शरीर कभी शुचि नहीं हो सकता। इसमें पवित्रता का आग्रह करना अज्ञान का द्योतक है।

देह अपावन, अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई,
सागर के जल सौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई।

सात कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै,
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है।

नव मलद्वार स्रवैं निसिवासर, नाम लिये घिन आवै,
व्याधि, उपाधि अनेक जहाँ तहँ कौन सुधी सुख पावै।

पोषत तो दुःख दोष करै अति, शोषत सुख उपजावै,
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै।

राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है,
यह तन पाय महातप कीजै, या मैं सार यही है॥

इस शरीरप्राप्ति का महत्त्व इसी में है कि इससे धर्मसाधन किया जाय न कि पापार्जन; इस शरीर से तपश्चर्या करके कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है अतः बुद्धिमान् अन्तरात्मा को चाहिए कि वह इससे पाप कमाने के बजाय मुक्तिमार्ग में प्रवृत्ति करे।

दूसरों को दुःखी करने वाला स्वयं दुःख का पात्र बनेगा

शारीरमानसैर्दुःखैर्बहुधा बहुदेहिनः।
संयोज्य साम्प्रतं जीव ! भविष्यसि कथं स्वयम् ? ॥४०॥

अर्थ - हे जीव ! अभी तो तू अन्य जीवों को शारीरिक और मानसिक दुःखों से प्रायः दुःखी करता है तो फिर तू स्वयम् भविष्य में कैसा होगा? ॥४०॥

भावार्थ - दूसरों के लिए शारीरिक और मानसिक दुःखों का संयोजन करने वाला जीव स्वयं दुःखों का पात्र बनेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

नरक में रक्षा कौन करेगा

धर्मं न कुरुषे मूर्ख ! प्रमादस्य वशंवदः।
कल्ये हि त्रास्यते कस्त्वां नरके दुःखविह्वलम्? ॥४१॥

अर्थ - हे मूर्ख ! प्रमाद के वशीभूत होकर अभी तो तू धर्ममय प्रवृत्ति करता नहीं है तो फिर जब नरक में दुःखों से विह्वल होगा तो फिर तेरी रक्षा वहाँ कौन करेगा ? ॥४१॥

भावार्थ - जीव को अपने कृतकर्मों का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। पापपूर्ण प्रवृत्ति करने वाला जीव मरकर नरक गति में जाता है। नरक दु:खपूर्ण स्थान हैं, वहाँ एक क्षण के लिए भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, मात्र दु:ख ही दु:ख हैं। वहाँ उन दु:खों से छुटकारा दिलाने वाला कोई नहीं होता, जीव को सारे दु:ख स्वयं को ही भोगने पड़ते हैं। अत: यदि कोई नारकीय यंत्रणाओं से बचना चाहता है तो उसे प्रमाद का परित्याग करके धर्ममय प्रवृत्ति करनी चाहिए।

नरक में धर्म की प्राप्ति दुर्लभ

कन्धराबद्धपापाश्मा भवाब्धौ यद्यधो गत:।
क्व धर्मरज्जुसम्प्राप्ति: पुनरुच्छलनाय ते ? ॥४२॥

अर्थ - हे जीव ! जो तू गले में पापरूपी पत्थर बाँधकर संसार रूपी समुंद्र में ठेठ नीचे चला गया तो वहाँ से तुझे खींचने के लिए धर्म रूपी रस्सी की प्राप्ति कैसे होगी ? ॥४२॥

भावार्थ - वजन बाँधकर कोई वस्तु पानी में डाली जाय तो वह पेंदे में चली जाती है उसी प्रकार तूने भी पाप रूपी पत्थर अपने गले में बाँध रखा है अत: तू भी संसार रूपी सागर में ठेठ नीचे चला जाएगा। वहाँ से तुझे वापस खींचने के लिए धर्म रूपी रस्सी की प्राप्ति कहाँ, कैसे होगी ?

संसार में सुख नहीं

दु:खकूपेऽत्र संसारे सुखलेशभ्रमोऽपि य:।
सोऽपि दु:खसहस्रेणानुविद्धोऽत: कुत: सुखम् ? ॥४३॥

अर्थ - दु:ख के कुए रूपी इस संसार में जो भ्रमवश थोड़ा सुख प्रतीत होता है वह भी हजारों दु:खों से बींधा गया है, अत: संसार में सुख है कहाँ ? ॥४३॥

भावार्थ - चतुर्गतिरूप यह संसार दु:खपूर्ण है, यहाँ सुख का लेश भी नहीं-

"जो संसारविषै सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागै।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सौं अनुरागै॥"

चारों गतियाँ दुःखपूर्ण हैं, संसार में सुख है ही नहीं, यदि यहाँ सुख होता तो तीर्थङ्कर इसे छोड़ कर क्यों जाते ?

संसार से वैराग्य

दुःखितानखिलाञ्जन्तून् पश्यतीह यथा यथा।
तथा तथा भवस्यास्य विशुद्धात्मा विरज्यति ॥४४॥

अर्थ - कोई विशुद्ध आत्मा ज्यों-ज्यों संसार में सभी जीवों को दुःखी देखता है, त्यों-त्यों उसे इस संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है॥४४॥

भावार्थ - चारों गतियों में जीवों को दुःख से त्रस्त देखकर विशुद्धात्मा साधक को संसार से वैराग्य हो जाता है। वह समझ जाता है कि यह संसार रहने लायक नहीं है क्योंकि यत्र तत्र सर्वत्र सभी जीव दुःख से पीड़ित हैं। यह दुःख ही वैराग्योत्पत्ति में सहायक-निमित्त बन जाता है।

मुनि संसार को पार कर सकता है

संसारावर्तनिर्मग्नो घूर्णमानो विचेतनः।
अध एव जनो याति निकटेऽपि तटे हहा ॥४५॥

तिर्यग्गोऽयं यथा च्छिन्दन् नद्याः स्यात् पारगः सुधीः।
भवस्यापि तथोत्सर्गापवादकुशलो मुनिः ॥४६॥

अर्थ - संसार रूपी नदी के भँवर में पड़ा हुआ मनुष्य किनारा नजदीक होते हुए भी गोता खाते-खाते विचेतन (बेभान) होकर नीचे चला जाता है। परन्तु तिर्यग् रीति से गमन करे तो वह मनुष्य जैसे भँवर को भेद कर नदी पार कर सकता है वैसे ही उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग में मुनि भी यथोचित रीति से विहार करते हुए संसार को पार कर सकता है॥४५-४६॥

भावार्थ - संसार को पार करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपेक्षित हैं। साधु की प्रवृत्ति त्रिरत्नमय ही होती है अतः वह

उत्सर्ग मार्ग से यथोचित रीति से विहार करते हुए भवसागर के पार पहुँच सकता है, क्वचित् कदाचित् अपवाद मार्ग से भी कोई-कोई मंजिल तक पहुँच सकता है।

काम और अर्थ से विमुख हो धर्म पुरुषार्थ में रति करो

एभिः सर्वात्मना भावैर्भावितात्मा शुभाशयः।
कामार्थविमुखः शूरः सुधर्मैकरतिर्भवेत् ॥४७॥

अर्थ - विमल अन्तःकरण वाले वीर पुरुष को पूर्वकथित सभी भावों से वासित होकर, काम और अर्थ इन दो पुरुषार्थों से विमुख होकर धर्म में ही सब प्रकार से लीन हो जाना चाहिए॥४७॥

भावार्थ - जीवन के चार पुरुषार्थों में से संसार, शरीर और भोगों से विरक्त मनुष्य के लिए धर्म और मोक्ष ये दो पुरुषार्थ ही उपादेय हैं, अर्थ और काम पुरुषार्थ हेय हैं। अतः मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने वाले को उपरि-कथित सभी भावों से युक्त होकर धर्म में ही रति करनी चाहिए।

योगरसायन का पान कर योगी परमपद को प्राप्त करता है

इति तत्त्वोपदेशौघक्षालितामलमानसः।
निर्द्वन्द्व उचिताचारः सर्वस्यानन्ददायकः ॥४८॥
स्वस्वरूपस्थितः पीत्वा योगीयोगरसायनम्।
निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं प्राप्नोति परमं पदम् ॥४९॥

अर्थ - इस प्रकार तत्त्वोपदेश से मन के मैल को दूर करने वाले, द्वन्द्व रहित, उचित आचारों का पालन करने वाले, सबको आनन्दित करने वाले योगी आत्मस्वरूप में स्थित होकर, योगरूप रसायन का पान कर, सब प्रकार के क्लेशों से रहित परम पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इति श्रीयोगसारे महाशास्त्रे भावशुद्धिजनकोपदेशकः पञ्चमः प्रस्तावः समाप्तः॥

इस प्रकार श्रीयोगसार नामक महाशास्त्र में भावशुद्धिजनकोपदेशक नाम का पाँचवाँ प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

卐 卐 卐

पैंतालीस आगम

आज से २५०० वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वज्ञता प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उन्होंने ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणों को दीक्षा देकर उन्हें 'गणधर' की पदवी दी। भगवंत ने ११ गणधरों को 'त्रिपदी' दी। 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।' इस त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने 'द्वादशांगी' (बारह शास्त्रों) की रचना की। पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशांगी की रचना की, उनमें से बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है। जो ग्यारह अंग रहे हैं, उनमें से भी बहुत सा भाग नष्ट हो गया है, फिर भी जो रहा उसको आधार मानकर कालांतर में अन्य आगमों की रचना की गई है।

इस तरह पिछले सैकड़ों वर्षों से '४५ आगम' प्रसिद्ध हैं। इन आगमों के ६ विभाग हैं। इन पर जो विवरण लिखे गये हैं, वे चार प्रकार के हैं– (१) निर्युक्ति (२) भाष्य (३) चूर्णि (४) टीका। ये विवरण संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों को निम्नलिखित चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया गया है –

१. धर्मकथा–अनुयोग
२. गणित–अनुयोग
३. द्रव्य–अनुयोग
४. चरण-करण-अनुयोग

इनकी रचना श्री आर्यरक्षित सूरि द्वारा की गई।

११ अंग	१२ उपांग	४ मूल सूत्र	६ छेद सूत्र	१० प्रकीर्णक	२ चूलिका सूत्र
आचार	औपपातिक	आवश्यक	निशीथ	देवेन्द्र स्तव	नन्दी
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय	उत्तराध्ययन	दशाश्रुत	तंदुल वैचारिक	अनुयोगद्वार
स्थान	जीवाभिगम	दशवैकालिक	बृहत्कल्प	गणि विद्या	
समवाय	प्रज्ञापना (पन्नवणा)	ओघनिर्युक्ति	व्यवहार	आतुरप्रत्याख्यान	
व्याख्याप्रज्ञप्ति	सूर्य प्रज्ञप्ति		जीतकल्प	महाप्रत्याख्यान	
ज्ञाताधर्म कथा	चन्द्र प्रज्ञप्ति		महानिशीथ	गच्छाचार	
उपासकदशा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति			भक्तपरिज्ञा	
अंतकृतदशा	निरयावलिका			मरणसमाधि	
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका			संस्तारक	
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिता			चतुः शरण	
विपाक श्रुत	पुष्पचूलिका				
	वृष्णि दशा				

शिक्षापद

यदि भला किसी का कर न सको तो, बुरा किसी का मत करना।
अमृत न पिलाने को घर में तो, जहर पिलाने से डरना॥१॥

यदि सत्य मधुर नहीं बोल सको तो, झूठ कठिन भी मत बोलो।
यदि मौन रखो सबसे अच्छा, कम-से-कम विष तो मत घोलो।
बोलो तो पहले तुम तोलो, फिर मुख ताला खोला करना॥२॥

यदि घर न किसी का बाँध सको तो, झोपड़ियाँ न जला देना।
यदि मरहम पट्टी कर न सको तो, खार नमक न लगा देना।
यदि दीपक बन कर जल न सको तो, अन्धकार भी मत करना॥३॥

यदि फूल नहीं बन सकते तो, काँटे बन कर न बिखर जाना।
मानव बनकर सहला न सको तो, दिल भी किसी का दुःखाना ना।
यदि देव नहीं बन सकते तो, दानव बन कर भी मत मरना॥४॥

मुनि पुष्प अगर भगवान नहीं तो, कम-से-कम इन्सान बनो।
किन्तु न कभी शैतान बनो और कभी न तुम हैवान बनो।
यदि सदाचार अपना न सको तो, पापों में पग मत धरना।
यदि भला किसी का कर न सको तो, बुरा किसी का मत करना॥५॥

卐 卐 卐